मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 132 ● वर्ष 14, अंक 8 ● अक्टूबर 2024 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

हिमाचल प्रदेश में संघी लंगूरों का उत्पात और कांग्रेस सरकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता 5

काम के दबाव और वर्कलोड से हो रही मौतें : ये मुनाफ़े की हवस के हाथों हो रही हत्याएँ हैं! 13

रोखे दाल्तोन की कविताएँ ● कविता की ज़रूरत 15

हरियाणा और जम्मू-कश्मीर विधानसभा चुनाव के नतीजे

चुनावी समीकरणों और जोड़-घटाव के बूते फ़ासीवाद को फ़ैसलाकुन शिक़स्त नहीं दी जा सकती है!

8 अक्टूबर को हरियाणा और जम्मू-कश्मीर में सम्पन्न हुए विधान सभा चुनावों के नतीजे आ गये। इन नतीजों के आने के बाद इतनी बात तो तय है कि हरियाणा और जम्मू-कश्मीर की आम मेहनतकश अवाम के जीवन के हालात में कोई वास्तविक या गुणात्मक परिवर्तन नहीं आने वाला है। हरियाणा में फ़ासीवादी भाजपा की फिर से सरकार में वापसी हुई है, वहीं जम्मू-कश्मीर में उमर अब्दुल्ला के नेतृत्व में इण्डिया गठबन्धन (मुख्य तौर पर नेशनल कान्फ्रेंस) की सरकार बनी है हालाँकि अभी वहाँ कांग्रेस सरकार में शामिल नहीं हुई है।

हरियाणा के चुनाव परिणाम आने के बाद एक बार फिर से प्रगतिशील-जनवादी दायरे के कई लोगों को झटका लगा है। ऐसे सभी लोग हरियाणा में कांग्रेस की जीत की उम्मीद लगाये बैठे थे। हरियाणा के सम्बन्ध में गोदी मीडिया तक के तमाम एक्ज़िट पोल कांग्रेस की जीत ही दिखला रहे थे। आम लोगों में भाजपा के ख़िलाफ़ गुस्से को देखते हुए भी इसी की सम्भावना अधिक लग भी रही थी। हालाँकि ऐसा हुआ नहीं और भाजपा 90 में से 48 सीटें जीत गयी जबकि कांग्रेस के खाते में 37 सीटें आयीं। भाजपा का हरियाणा में यह अब तक का सबसे अच्छा प्रदर्शन है। नतीजों के शुरुआती रुझानों के बाद कांग्रेस ने चुनाव आयोग द्वारा गिनती की प्रक्रिया को जानबूझकर धीमा करने और ईवीएम के ज़रिये चुनावी नतीजों में हेर-फ़ेर करने के आरोप लगाये जो चुनाव आयोग के निष्पक्षता के दावों और ईवीएम की विश्वसनीयता पर एक बार फिर गम्भीर प्रश्नचिन्ह खड़े कर देता है।

सम्पादकीय अग्रलेख

यह आशंका इसलिए भी बढ़ जाती है क्योंकि कई विश्लेषकों के अनुसार चुनाव आयोग की वेबसाइट पर 5 अक्टूबर को चुनाव सम्पन्न होने के बाद भी मत प्रतिशत में बढ़ोत्तरी दर्ज होती देखी गयी। हरियाणा में 9 सीटें ऐसी थीं जिनपर कांग्रेस 6000 वोटों से कम के अन्तर से हारी है जिसमें उचाना कलां की सीट पर कांग्रेस का प्रत्याशी महज़ 32 वोटों के अन्तर से हारा है। इसके अलावा 8 ऐसी सीटें थी, जहाँ भाजपा प्रत्याशियों की ज़मानत ही ज़ब्त हो गयी जो कि भाजपा की इस "ऐतिहासिक" जीत की पोल भी खोल देता है। जहाँ तक कुल प्राप्त मतों के प्रतिशत का सवाल है तो भाजपा को कुल मतों का 39.94 प्रतिशत प्राप्त हुआ और वहीं कांग्रेस को 39.09 प्रतिशत मत मिले हैं। यानी भाजपा को महज़ 0.85 प्रतिशत वोट ही कांग्रेस से अधिक मिले थे, हालाँकि पिछली बार के मुक़ाबले इस बार भाजपा ने 3.45 प्रतिशत वोट अधिक पाये हैं।

दूसरी तरफ़, जम्मू-कश्मीर में हुए चुनाव 21 नवम्बर 2018 को विधान सभा भंग किये जाने व मोदी सरकार द्वारा अगस्त 2019 में अनुच्छेद 370 और धारा 35 ए हटाये जाने के बाद और राज्य का दर्जा छीने जाने के बाद हुए यह पहले विधान सभा चुनाव थे। वहाँ के नतीजों में अप्रत्याशित कुछ भी नहीं था। कश्मीर में उमर अब्दुल्ला की जम्मू-कश्मीर नेशनल कॉन्फ्रेंस को बहुमत मिला और 42 सीटें जीतने के साथ वह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी, वहीं भाजपा को 29 सीटें मिलीं और जम्मू में वह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में सामने आयी। वैसे कश्मीर घाटी में लम्बे अरसे से चुनावों का कोई विशेष अर्थ नहीं रहा गया है लेकिन इस बार अगर कुछ इलाक़ों में मतदान प्रतिशत पहले के मुक़ाबले थोड़ा ज़्यादा भी रहा तो इसके पीछे कारण भाजपा को सत्ता से बाहर करना था। श्रीनगर में मतदान महज़ 29.81 फ़ीसदी रहा। दूसरा,कश्मीर घाटी में पीडीपी के दयनीय प्रदर्शन के पीछे भी कारण उसके भाजपा से गठबन्धन का

(पेज 9 पर जारी)

एक बार फिर न्यूनतम वेतन बढ़ाने के नाम पर नौटंकी करती सरकारें!

● भारत

तुम्हारी फ़ाइलों में गाँव का मौसम
गुलाबी है,
मगर ये आँकड़े झूठे हैं ये दावा
किताबी है।

कवि अदम गोंडवी ने एक अन्य सन्दर्भ में सरकारी झूठ का भण्डाफोड़ करते हुए इन पंक्तियों को लिखा था। उनकी कविता की इन पंक्तियों को अभी हालिया दिनों में न्यूनतम वेतन बढ़ाने की सरकारी नौटंकी के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। अभी केन्द्र सरकार ने न्यूनतम मज़दूरी में बढ़ोतरी की घोषणा है। इस बढ़ोतरी को 1 अक्टूबर 2024 से लागू करने की बात की गयी है। केन्द्र सरकार की नयी दरों के अनुसार, अकुशल श्रमिकों को अब प्रति माह 20,358 रुपये, जबकि अर्ध-कुशल, कुशल और अत्यधिक कुशल श्रमिकों के लिए यह राशि क्रमशः 22,568 रुपये, 24,804 रुपये और 26,910 रुपये होगी। एक तरफ़ यह घोषणा है और दूसरी तरफ़ "ग़रीब के बेटे" प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी के मेहनतकश-विरोधी काले कारनामे। मोदी सरकार ने पूँजीपतियों को मज़दूरों की एक-एक नस से ख़ून निचोड़ लेने में समर्थ बनाने के लिए वाक़ई बहुत कड़ी मेहनत की है। इसके लिए बस मोदी सरकार द्वारा श्रम-क़ानूनों में किये गये बदलाव और 2023-24 के बजट पर एक नज़र डालना काफ़ी होगा।

भारत में बने श्रम क़ानून शुरू से ही नाकाफ़ी थे। जो क़ानून थे भी वे असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की विशाल आबादी के लिए शायद ही कभी अमल में आते थे। उनको भी समय-समय पर पूँजीपतियों के पक्ष में बदला जाता रहा है। लेकिन अब मोदी सरकार द्वारा पूँजीपतियों को रहे-सहे श्रम क़ानूनों की अड़चन से मुक्त कर मज़दूरों का बेहिसाब शोषण करने के लिए 44 केन्द्रीय श्रम क़ानूनों की जगह चार कोड या संहिताएँ बनायी गयी हैं- मज़दूरी पर श्रम संहिता, औद्योगिक सम्बन्धों पर श्रम संहिता, सामाजिक सुरक्षा पर श्रम संहिता और औद्योगिक सुरक्षा एवं कल्याण पर श्रम संहिता।

पहले कोड या संहिता के तहत पूरे देश के लिए वेतन का न्यूनतम तल-स्तर निर्धारित किया जायेगा। सरकार का कहना है कि एक त्रिपक्षीय समिति इस तल-स्तर का निर्धारण करेगी, मगर इस सरकार के श्रम मन्त्री पहले ही नियोक्ताओं के प्रति अपनी उदारता दिखाते हुए प्रतिदिन के लिए तल-स्तरीय मज़दूरी 178 रुपये करने की घोषणा कर चुके हैं। यानी, मासिक आमदनी होगी महज़ 4,628 रुपये! यह राशि आर्थिक सर्वेक्षण 2017 में सुझाये गये तथा सातवें वेतन आयोग द्वारा तय किये गये न्यूनतम

(पेज 7 पर जारी)

मोहन भागवत की "हिन्दू" एकजुटता किसके लिए?

आम हिन्दू आबादी को "हिन्दू एकता" के भाईचारे में चारा बनाने की साज़िश को समझो!

● आशु

पिछले दिनों आरएसएस प्रमुख मोहन भागवत ने फिर एक बार "हिन्दू एकता" का राग अलापा है। इसकी एक वजह यह है कि अभी हाल के चुनावी समीकरणों में भाजपा और संघ परिवार का "हिन्दू कार्ड" ठीक से नहीं चल पा रहा है। इसलिए महाराष्ट्र चुनाव से पहले भाजपा और संघ परिवार हिन्दू वोटों के ध्रुवीकरण की चाल चल रहे हैं। वैसे यह भी मज़ेदार बात है कि अभी कल तक हरियाणा चुनाव में भाजपा और संघ परिवार "हिन्दू एकता" की नहीं बल्कि जाट-ग़ैर-जाट की राजनीति पर वोटों का ध्रुवीकरण करके सत्ता तक पहुँचे हैं।

ऐसे में हिन्दुओं के सबसे बड़े "रहनुमा" संघ परिवार के मोहन भागवत से आम हिन्दू आबादी को पूछना चाहिए कि उनकी रोज़मर्रा की समस्याओं के समय आरएसएस कहाँ ग़ायब हो जाता है? आइए, मोहन भागवत से "हिन्दू एकता" का पाठ पढ़ाने पर कुछ सवाल पूछते हैं ?

क्या कभी आरएसएस और विश्व हिन्दू परिषद् ने देश भर के मज़दूर-ग़रीब किसानों के आन्दोलन को समर्थन दिया है? जबकि देश भर के सभी संघर्षों में 90 फ़ीसदी आबादी हिन्दुओं की होती है। याद कीजिए ग़रीब किसानों-मज़दूरों के आन्दोलन में हिन्दुओं के ये फ़र्ज़ी ठेकेदार कभी नज़र आये हैं?

जब लाखों की संख्या में ठेका, अस्थायी, दिहाड़ी मज़दूरों के पैसे ठेकेदार और मालिक हड़प जाते हैं, तब ये हिन्दू धर्म के ठेकेदार मदद के लिए सामने क्यों नहीं आते?

स्त्री पहलवानों के संघर्ष से लेकर हाथरस, उन्नाव जैसे जघन्य स्त्री-विरोधी अपराधों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वाले आन्दोलनों के समय आरएसएस कहाँ ग़ायब रहता है? उल्टे, यह ज़रूर होता है कि 100 में से 99 बार ऐसे अपराधों को अंजाम देने वालों के तार संघ परिवार और उसके चुनावी फ्रण्ट भाजपा से जुड़े पाये जाते हैं।

देश भर में लक्ष्मणपुर, बथानी टोला, खैरलांजी या मिर्चपुर जैसी बर्बर दलित उत्पीड़न की घटनाओं में आएएसएस कितने "हिन्दू" दलितों की सुरक्षा या न्याय की लड़ाई में शामिल हुआ? सब जानते है कि संघ परिवार और भाजपा अपनी विचारधारा और चरित्र से घोर ब्राह्मणवादी हैं और इनके सदस्य ब्राह्मणवादी /सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं।

लॉकडाउन के समय जब लाखों मज़दूर सड़कों पर पैदल चल रहे थे, रोटी-पानी के लिए दर-दर की ठोकरें खा रहे थे, तब यह आरएसएस कहाँ था? याद रहे कि यह हालात झेल रहे मज़दूरों का क़रीब 85 फ़ीसदी हिस्सा हिन्दू मज़दूर ही है।

मोदी सरकार और संघ परिवार 'स्वच्छ भारत अभियान' की नौटंकी करते नहीं थकते हैं लेकिन दूसरी ओर देश भर के लाखों हिन्दू सफ़ाई कर्मचारी मौत के मुँह में जाकर सफ़ाई का काम करने को मजबूर हैं। ज़रा पूछिये क्या इन "हिन्दू" सफ़ाईकर्मियों की मौत पर आरएसएस ने कभी कोई प्रदर्शन किया है?

पूँजीपतियों, फैक्ट्री मालिकों, ठेकेदारों, दलालों के पैसों से चलने वाले ये "हिन्दू धर्म-रक्षक" असल में मालिकों की ही सेवा करने के लिए खड़े हैं। आज फ़ासीवादी राज्यसत्ता, जो स्वयं संगठित हिंसा और दमन का सबसे बर्बर तन्त्र है, वह विहिप, बजरंग दल जैसे हिंसक संगठित गिरोहों को इसलिए फलने-फूलने का मौक़ा दे रही है ताकि सडकों पर भी हर प्रकार के विरोध को कुचला जा सके, भविष्य में जुझारू मज़दूर आन्दोलनों पर हमले करवा सके, उसको कुचलने के लिए इन्हीं प्रतिक्रियावादी ताक़तों का इस्तेमाल कर सके।

याद रखिए! जब स्वतन्त्रता आन्दोलन में भगतसिंह और उनके साथी ब्रिटिश सरकार से उन्हें फाँसी के बदले गोली से उड़ा दिये जाने की माँग कर रहे थे, तब संघियों के पुरखे जैसे कि सावरकर अंग्रेज़ी हुकूमत को माफ़ीनामे पर माफ़ीनामे लिख रहे थे। जब देश में लाखों युवा आज़ादी की लड़ाई में क़ुर्बानी दे रहे थे, उस समय आरएसएस बेशर्मी से स्वतन्त्रता आन्दोलन से ग़द्दारी करके मुस्लिम लीग के साथ मिलकर दो प्रान्तों में सरकार चला रहा था।

इसलिए देश के मेहनतकश साथियों के साथ-साथ तमाम इन्साफ़पसन्द नागरिकों कोभी ऐसे फ़र्ज़ी धर्म के ठेकेदारों से सावधान रहना चाहिए। मेहनतक़श आबादी को अपने संघर्षों को एकजुट करने के लिए अपने सच्चे साथियों को पहचानना चाहिए। याद रखिए महँगाई, बेरोज़गारी और बदहाली कभी धर्म-जात पूछ कर नहीं आती। अगर ये सही में हिन्दुओं के सच्चे हितैषी होते तो देश की 90 फ़ीसदी हिन्दू आबादी बेरोज़गारी, महँगाई, ग़रीबी, कुपोषण, भुखमरी से त्रस्त नहीं होती।

आरएसएस के "हिन्दू राष्ट्र" का मतलब है बड़े इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग यानी अम्बानी, अडानी, टाटा, बिड़ला आदि समेत समूचे पूँजीपति वर्ग की सेवा करना। आज जो कोई भी इस देश में पूँजीपतियों की लूट के ख़िलाफ़ आवाज उठायेगा, वह इस "हिन्दू राष्ट्र" का द्रोही है, चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, सिख हो, ईसाई हो या कोई और! इसलिए हमें समझना होगा कि धर्म-जात के झगड़े में हम जैसी ही ग़रीब-मेहनतक़श आबादी उजड़ेगी, दंगों के नाम पर देश के बेरोज़गार युवाओं को ही चारा बनाया जायेगा।

तमाम धर्म के ठेकेदार ए.सी. कमरों में बैठकर फ़ेसबुक लाइव से भाषण देकर आग भड़कायेंगे और नुक़सान मेहनतक़श आबादी को उठाना पड़ेगा। दंगों की आग पर रोटियों सेंक कर भाजपा व संघ को कुर्सी मिलेगी और इनके अपने बच्चे विदेशों में पढ़कर मौज लेगें।

इसलिए शहीदे-आज़म भगतसिंह की यह बात कभी ना भूलें ....**'लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की ज़रूरत है। ग़रीब, मेहनतक़शों व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं। इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़कर कुछ नहीं करना चाहिए। संसार के सभी ग़रीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताक़त अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करो। इन यत्नों से तुम्हारा नुक़सान कुछ नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी ज़ंजीरें कट जायेंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।'**

प्रिय पाठको, अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ।

आप यहाँ दिये गये QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं या बिगुल की वेबसाइट mazdoorbigul.net पर जाकर सदस्यता या सहयोग के लिए भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है। आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं : www.facebook.com/MazdoorBigul

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 8853476339

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016 फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

मारुति के मज़दूर एक बार फिर संघर्ष की राह पर!

● गुड़गाँव संवाददाता

18 सितम्बर (2024) से मारुति मानेसर प्लाण्ट के वर्ष 2012 से बर्ख़ास्त मज़दूर अपनी कार्यबहाली, झूठे मुक़दमों की वापसी और18 जुलाई की घटना की स्वतन्त्र जाँच की माँग के लिए मानेसर तहसील (आईएमटी मानेसर चौक के पास) पर अनिश्चितकालीन धरने पर बैठे हुए हैं। लेकिन प्रबन्धन द्वारा त्रिपक्षीय बैठक में अड़ियल रवैये को देखते हुए मज़दूरों ने बीते 10 अक्तूबर से क्रमिक अनशन शुरू कर दिया है। संघर्ष में बर्ख़ास्त मज़दूरों के परिवार, विभिन्न मज़दूर यूनियनों व संगठनों के लोग शामिल हो रहें हैं।

इस वर्ष 18 जुलाई (2024) को मज़दूरों ने गुड़गाँव में जुलूस व प्रदर्शन के ज़रिये आगामी दिनों में अपनी न्यायपूर्ण माँगों के लिए संघर्ष को दोबारा तेज़ करने का ऐलान किया। इसके बाद 8 सितम्बर को हरियाणा के मौजूदा मुख्यमन्त्री नायाब सिंह सैनी द्वारा मज़दूरों को न्याय का भरोसा दिलाया गया और हरियाणा श्रम विभाग ने मारुति प्रबन्धन को न्यायपूर्ण समझौते का आदेश दिया। हालाँकि यह सब भी किसी नौटंकी से कम कुछ नहीं था। हरियाणा की भाजपा सरकार ऐसा दिखला रही थी कि मानो वह कल ही पैदा हुई हो और उसे मारुति मज़दूरों की माँगों और आन्दोलन के बारे में कुछ पता ही न हो! 2014 से हरियाणा में भाजपा की ही सरकार है। बहरहाल, नायब सिंह सैनी द्वारा भरोसा दिलाने की इस नौटंकी के बावजूद प्रबन्धन अपने अड़ियल रुख़ पर क़ायम रहा। नतीजतन मज़दूरों ने 18 सितम्बर से कम्पनी गेट पर धरने का ऐलान कर किया। इस पर प्रबन्धन तुरन्त कोर्ट में चला गया। इसके बावजूद मज़दूरों को गेट से 500 मीटर दूरी पर शान्तिपूर्ण धरने की अनुमति मिल गयी, लेकिन मानेसर पुलिस ने चुनाव आचार संहिता का हवाला देकर कोर्ट के आदेश की अवहेलना कर मज़दूरों को तहसील पर ही रोक दिया।

इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि मुनाफ़े की हवस पर उतारू जापानी मारुति सुज़ुकी कम्पनी, भ्रष्ट श्रम विभाग-पुलिस-प्रशासन व न्यायालय तथा पहले हुडा की कांग्रेस सरकार और अब सैनी की भाजपा सरकार का मज़दूर विरोधी चरित्र दिन के उजाले की तरह साफ़ हो चुका है। लेकिन दूसरी तरफ़ सिर्फ़ इलाक़े की नहीं बल्कि विभिन्न राज्यों की कई यूनियनों, मज़दूर संगठनों के अलावा विभिन्न जनसंगठनों व इन्साफ़पसन्द नागरिकों का भी समर्थन संघर्ष को मिल रहा है जिसके दम पर मज़दूर अपना दिन-रात का पक्का धरना जारी रखे हुए हैं।

आन्दोलन की शुरुआत कब और कैसी हुई?

मारुति के आन्दोलन की शुरूआत साल 2011 से हुई थी जब मारुति मज़दूर सभी के लिए उचित मज़दूरी व ठेका मज़दूरों के स्थायीकरण की माँग कर रहे थे। इस प्रक्रिया में वे यूनियन बनाने में भी क़ामयाब हुए। लेकिन जैसे ही स्थायी मज़दूरों ने कम्पनी में स्थायीकरण की माँग को आगे बढ़ाया प्रबन्धन ने यूनियन तोड़ने और पदाधिकारियों समेत मज़दूरों को तंग करना शुरू कर दिया था जिसका मौक़ा प्रबन्धन को 2012 में मज़दूरों और कम्पनी के भाड़े के गुण्डों में टकराव के वक़्त मिला गया था। कम्पनी में आग लगने की घटना में मैनेज़र की मौत का दोष मज़दूरों पर मढ़ कर मज़दूरों को एकतरफ़ा तरीक़े से अपराधी घोषित कर दिया गया था। 18 जुलाई, 2012 को मानेसर प्लाण्ट में जो कुछ हुआ, वह न तो सुनियोजित था और न ही यह संघर्ष का कोई तरीक़ा ही हो सकता है। वास्तव में ऐसी घटनाएँ प्रबन्धन की हरक़तों द्वारा भड़कायी जाती हैं। मीडिया से लेकर सरकार तक किसी ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि मज़दूरों का आक्रोश इस क़दर क्यों फूट पड़ा था? अक्टूबर 2011 में प्रबन्धन ने जिस तरह से पैसे, सरकारी दबाव और झूठे वायदों के मेल से समझौता करवाया था और मारुति सुज़ुकी एम्प्लाइज़ यूनियन के नेतृत्व को ख़रीदकर यूनियन को ख़त्म कर दिया था, उसी से स्पष्ट हो गया था कि उसके इरादे नेक नहीं हैं। किसी तरह से हड़ताल को ख़त्म करने के लिए सारा षड्यन्त्र रचा गया था। इस घटना का फ़ायदा उठाकर प्रबन्धन ने नयी यूनियन की मान्यता रद्द करने की मंशा ज़ाहिर करके अपने इरादों का पता दे दिया था।

ग़ौरतलब बात यह है कि कम्पनी प्रबन्धन आजतक सीसीटीवी फुटेज न्यायालय के समक्ष पेश नहीं कर सका है। वहीं सरकार द्वारा गठित एसआईटी (स्पेशल इन्वेस्टीगेशन टीम) ने मज़दूरों को निर्दोष क़रार दिया। 18 जुलाई 2012 को प्रबन्धन के अधिकारी की मौत के बाद यूनियन को ख़त्म करने के लिए मैनेजमेण्ट ने षड्यन्त्रकारी तरीक़े से 546 स्थायी व 1800 ठेका मज़दूरों को निकाल दिया था और 148 मज़दूरों को जेल भेज दिया गया था। फिर सबूतों के अभाव में 5 साल जेल में बिताने के बाद 117 मज़दूरों को बाइज़्ज़त बरी कर दिया गया। लेकिन यूनियन के 12 पदाधिकारियों और एक मज़दूर जिया लाल समेत 13 मज़दूरों को उम्रक़ैद की सज़ा सुनायी गयी। फिर 10 साल जेल में बिताने के बाद ज़मानत हासिल हुई। इस तरह 10 साल लम्बे क़ानूनी संघर्ष के बाद 2022 में बर्ख़ास्त मज़दूरों ने ज़मानत के बाद एक बार फिर से कार्यबहाली, केस वापसी और घटना की निष्पक्ष जाँच की माँग को लेकर 18 जुलाई घटना की बरसी के मौक़ों पर धरना-प्रदर्शन के ज़रिये प्रमुखता से उठाना शुरू कर दिया।

हालाँकि यह संघर्ष भी ग़द्दार केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों और कुछ अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी संगठनों के हस्तक्षेप के कारण अपने तमाम जुझारूपन के बावजूद, तमाम सम्भावनाओं के बावजूद, घुमावदार रास्तों से गुज़रता हुआ विघटित हो गया। कभी हरियाणा के उस वक़्त के मुख्यमन्त्री हुड्डा के आवास पर तो कभी कैथल के मन्त्री सुरजेवाला के आवास पर धरना प्रदर्शन आयोजित किया गया और फिर कैथल के ज़िला सचिवालय पर खूँटा डाल कर बैठा गया। तो कभी खाप पंचायत से मदद की गुहार लगायी गयी। आन्दोलन में मौजूद उक्त संगठनों ने कभी भी सुसंगतता का परिचय नहीं दिया और संघर्ष को अराजक तरीक़े से दिशा देते गये। आन्दोलन को अपनी ही वास्तविक उर्जा शक्ति यानी कि पूरे सेक्टर में फैली मज़दूर आबादी से, जिसकी काम और जीवन की स्थितियाँ मारुति के मज़दूरों से भिन्न नहीं हैं, ही काट कर रखा गया। यह आन्दोलन कारख़ाना केन्द्रित ही रह गया और मारुति मज़दूरों की चौहादी से बाहर नहीं निकल पाया। आलम यह है कि भूख हड़ताल शुरू होने के बावजूद धरने में शामिल मज़दूरों की संख्या अधिकतम 50 तक ही पहुँच पाती है।

'स्थायी-ठेका-अप्रेण्टिस-ट्रेनी मज़दूरों की एकता ज़िन्दाबाद' के मायने

मानेसर के इलाक़े में चल रहा संघर्ष न सिर्फ़ महज़ मारुति फैक्ट्री के बर्ख़ास्त मज़दूरों का संघर्ष है बल्कि पूरे सेक्टर और इलाक़े के सभी मज़दूरों का संघर्ष है। जिन माँगों के लिए 2011 में संघर्ष की शुरुआत हुई थी वे ऑटोसेक्टर समेत इलाक़े की विभिन्न औद्योगिक मज़दूरों की माँगे है। यानी अमानवीय कार्य परिस्थितियाँ, ठेका प्रथा, यूनियन अधिकार पर हमला तथा उचित वेतन बढ़ोतरी व सुरक्षित कार्य स्थितियों जैसी माँगों के लिए इस संघर्ष की शुरुआत की गयी थी, जो आज भी जारी है। लेकिन आज पहले से बरक़रार पुरानी समस्याओं के साथ-साथ नयी चुनौतियों का भी सामना करना होगा।

आज प्रबन्धन फैक्ट्री फ्लोर पर काम की तरह-तरह की श्रेणियाँ बनाकर मज़दूरों को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटता जा रहा है। व्यवस्था ने स्थायी और ठेका व अस्थायी मज़दूरों में बाँटकर हमारी ताक़त को कमज़ोर किया है। मौजूदा यूनियन नेतृत्व भी कम्पनी प्रबन्धन पर बर्ख़ास्त मज़दूरों के लिए दबाव बनाने में अभी तक क़ामयाब नहीं हो पाया। उल्टा, मारुति के तीनों प्लाण्टों में स्थायी मज़दूरों के मारुति प्रबन्धन के साथ हुए समझौतों में सभी अस्थायी मज़दूरों की माँगे और भागीदारी ग़ायब रहीं। एक तरफ़ 30,500 की बढ़ोतरी हासिल करने वालों की डेढ़ लाख का मासिक वेतन और दूसरी तरफ़ 15-20 हज़ार पाने वाले मज़दूरों को ठेंगा। मंचों पर व रैलियों में एकता के नारे लगाने वाले समझौता टेबलों पर सब भूल जाते हैं। इसलिए संकीर्ण ट्रेड यूनियन नीति और महज़ अपने आर्थिक लाभ को केन्द्र में रखते हुए वर्तमान और भविष्य के संघर्ष नहीं जीते जा सकते हैं। स्थायी मज़दूर तो वैसे भी अब गिनती के रह गये हैं। अगर समय रहते व्यवस्था और प्रबन्धन की इन साज़िशों को समझकर उनका माकूल जवाब नहीं दिया गया और सिर्फ़ नारों में ही नहीं बल्कि असलियत में भी स्थायी और अस्थायी मज़दूरों की एकता क़ायम नहीं की गयी तो आने वाले दिन और अधिक चुनौतीपूर्ण होंगे, इतना तय है। आज बेलसोनिका, प्रोटेरियल, जेएनएस समेत कई कारख़ानों में प्रबन्धन द्वारा जिस तरह स्थायी मज़दूरों को विभिन्न तरीक़ों से प्रताड़ित करना और अनेक बहानों से उनकी छँटनी करना या जबरन वीआरएस थोपना शुरू कर दिया गया है, स्थायी मज़दूरों और उसके नेतृत्व को समय रहते चेत जाना होगा वरना बाद में बहुत देर हो चुकी होगी!

इसके अलावा मज़दूरों को यह बात भी समझनी होगी कि फ़ासीवादी मोदी-सैनी की डबल इंजन की सरकार मज़दूरों को धर्म-जाति में बाँटने से नहीं चूकती है और ऐसा करके वह हमारे ही कम्पनी प्रबन्धन समेत समूचे पूँजीपति वर्ग की सेवा करती है। दंगों की आँच पर रोटियाँ सेंकने वाली सरकार मज़दूरों को ग़ुलामों की तरह निचोड़ने के लिए ही नयी श्रम संहिताएँ लेकर आयी है। अपनी न्यायपूर्ण माँगों के लिए संगठित होने और यूनियन बनाने, मोलभाव करने, प्रदर्शन-हड़ताल करने, महँगाई के हिसाब से उचित मज़दूरी हासिल करने के लिए संघर्षों को लगभग नामुमकिन बना दिया गया है। ऊपर से 3 नयी आपराधिक संहिताओं के ज़रिये हर जनवादी अधिकार के लिए उठने वाली आवाज़ पर भी क़ानूनी शिकंजा कसने की तैयारी की जा रही है।

मारुति के मज़दूरों के संघर्ष के अनुभव ने भी हमें यही सिखाया है कि जब तक इलाक़े के तमाम मज़दूर एक-दूसरे का साथ नहीं देंगे तबतक एक-एक कारख़ाने के मज़दूर अकेले-अकेले लड़कर आम तौर पर नहीं जीत सकते। सभी ठेका-कैजुअल-अप्रेण्टिस-ट्रेनी मज़दूरों की माँगों को उठाकर हमें व्यापक एकता बनानी होगी। इसी तर्ज़ पर आने वाले दिनों में ऑटो सेक्टर की इलाक़ाई व सेक्टरगत यूनियन और एकता का निर्माण करना होगा। तभी हम मौजूदा हालात को देखते हुए उपरोक्त चुनौतीपूर्ण स्थिति का मुक़ाबला कर पायेंगे। मज़दूर चाहे बर्ख़ास्त हों या प्लाण्ट में कार्यरत, सबको तत्काल एक मंच पर आना ही होगा। वरना ग़ुलामों की तरह काम करने और जानवरों की तरह मरने के लिए तैयार रहना होगा! आज मारुति के बर्ख़ास्त मज़दूर पूँजी, प्रबन्धन, पुलिस-प्रशासन और सरकार की मिली-जुली ताक़त का अकेले मुक़ाबला नहीं कर पायेंगे। हम मिलकर लड़ेंगे, तभी जीतेंगे!

वेतन बढ़ोत्तरी व यूनियन बनाने के अधिकार को लेकर सैम्संग कम्पनी के मज़दूरों की 37 दिन से चल रही हड़ताल समाप्त

एक और आन्दोलन संशोधनवाद की राजनीति की भेंट चढ़ा!

● अदिति

पिछले 9 सितम्बर से दक्षिण कोरिया की कम्पनी सैम्संग प्रौद्योगिकी के लगभग 1,500 मज़दूर दक्षिण भारत के तमिलनाडु में हड़ताल पर थे। ज्ञात हो भारत में सैम्संग के दो कारख़ाने हैं, जिसमें से एक चेन्नई में है, जहाँ लगभग 2,000 मज़दूर काम करते हैं और यहाँ घरेलू उपकरणों का उत्पादन होता है। इससे भारत में कम्पनी के वार्षिक 12 अरब डॉलर राजस्व में लगभग एक तिहाई का योगदान होता है। तमिलनाडु के श्रीपेरम्दूर स्थित सैम्संग फैक्ट्री में, जिसकी स्थापना 2007 में हुई थी, लगभग 1723 परमानेन्ट मज़दूर काम करते हैं, जिसमें से 1350 मज़दूर हड़ताल में शामिल हैं। 9 सितम्बर से हड़ताली मज़दूर फैक्ट्री के पास इकट्ठा होकर नारे लगा रहे थे और वेतन बढ़ोतरी की माँग कर रहे थे।

पिछले तीन साल से मज़दूरों के वेतन में बढ़ोतरी नहीं हुई थी और मज़दूर वेतन बढ़ाने की माँग को लेकर लम्बे समय से संघर्ष कर रहे थे। साथ ही यूनियन को मान्यता देने की माँग भी मज़दूर उठा रहे थे। हड़ताली मज़दूरों की एकता तोड़ने के लिए सैम्संग प्रबन्धन द्वारा मज़दूरों के हड़ताल को "अवैध" क़रार दिया गया था। सैम्संग प्रबन्धन ने दो सप्ताह पहले ज़िला अदालत में प्रदर्शनकारी मज़दूरों के ख़िलाफ़ मुक़दमा भी दायर किया था, जिसमें फैक्ट्री के अन्दर और आसपास नारे लगाने और भाषण देने पर रोक लगाने की माँग की गयी थी। साथ ही सैम्संग प्रबन्धन द्वारा मज़दूरों को ई-मेल भेज कर काम पर लौटने का दबाव बनाया गया और उन्हें काम से निकालने के लिये धमकी दी जा रही थी।

सैम्संग कम्पनी को राज्य सरकार से पूरा समर्थन मिल रहा था। मुख्यमन्त्री से लेकर श्रम मन्त्री हड़ताल को जल्द से जल्द समाप्त करने की बात कर रहे थे। केन्द्रीय श्रम मन्त्री तक पत्र लिखकर राज्य सरकार को हड़ताल जल्द से जल्द वापस करवाने के लिए कह रहे थे , ताकि विदेशी निवेश प्रभावित न हो और विदेशी कम्पनियों पर हड़ताल का ग़लत प्रभाव न जाये। इसके बाद सैम्संग कम्पनी ने तथाकथित 7 मज़दूरों की एक कमेटी से वार्ता की, जिनके साथ वार्ता के बाद प्रबन्धन ने अपनी ओर से हड़ताल समाप्ति की घोषणा कर दी। राज्य सरकार ने भी इसी तरह का प्रचार किया और हड़ताल जारी रहने पर पूरे आन्दोलन को बदनाम करने का काम शुरू कर दिया। इससे यह भी समझा जा सकता है कि किस तरह "उपद्रवी" मज़दूरों की हड़ताल को तोड़ने के लिए कम्पनी और सरकार की एकता काम करती है। हड़ताल तोड़ने की तमाम कोशिशों के बावजूद मज़दूर डटे रहे। सैम्संग प्रबन्धन वेतन बढ़ोतरी की माँग को स्वीकार करने की बात तो कर रही थी, लेकिन उनका कहना है कि वेतन में बढ़ोतरी सिर्फ़ कुछ महीनों के लिए व नाममात्र की ही की जायेगी। इसी के साथ यूनियन को मान्यता देने से प्रबन्धन ने साफ़ मना कर दिया था। 8 अक्टूबर को विरोध प्रदर्शन जारी रखने पर पुलिस द्वारा मज़दूरों पर लाठीचार्ज किया गया था। साथ ही धरना स्थल पर लगे टेण्ट को उखाड़ कर मज़दूरों को हिरासत में ले लिया गया था। पुलिस ने भारतीय न्याय संहिता (BNS) की धारा 191(2), 296(बी), 115(2), 132, 121(1), 351(2) और 49 के तहत अपराधों के लिए कई मज़दूरों पर एफ़.आई.आर दर्ज की है।

बता दें कि सैम्संग कम्पनी मज़दूरों के अधिकारों का दमन करने के लिए

कुख्यात है। इसी साल जुलाई में साउथ कोरिया के सैम्संग प्लाण्ट में काम करने वाले मज़दूर वेतन बढ़ाने व अवकाश की संख्या बढ़ाने हेतु हड़ताल पर गये थे। जहाँ तक चेन्नई की हड़ताल का सवाल है तो प्रबन्धन, प्रशासन व पुलिस द्वारा दवाब बनाये जाने के कारण कई मज़दूरों के काम पर वापस जाने की ख़बर भी आयी, लेकिन मज़दूर अड़े रहे। हालाँकि आख़िर में यह हड़ताल समझौते में समाप्त हो गयी। समझौते में तय हुआ कि सैम्संग प्रबन्धन कुछ महीनों तक वेतन में बढ़ोतरी करेगा, हड़लाती मज़दूरों को काम से नहीं निकाला जायेगा और न ही कोई अनुशासनात्मक कार्रवाई की जायेगी। यूनियन बनाने की माँग को नहीं माना गया है, यह माँग अभी कोर्ट में विचाराधीन है। यूनियन बनाने की माँग इस हड़ताल की मुख्य माँगों में से एक थी। हड़ताल ख़त्म होते ही तमिलनाडु सरकार, श्रम मन्त्री, सीटू नेता और सैम्संग प्रबन्धन आपस में खूब गलबहियाँ कर रहे थे और एक दूसरे को बधाई दे रहे थे।

सीटू की रस्मी–कवायद

सैम्संग कम्पनी की हड़ताल में सीटू सक्रिय रही है, लेकिन मज़दूरों के शानदार संघर्ष को गड्ढे में धकेलने का काम सीटू द्वारा ही किया गया है। पूरे घटनाक्रम के बाद सीटू द्वारा 21 अक्टूबर को औद्योगिक क्षेत्र में एक दिवसीय हड़ताल का आह्वान किया गया था। लेकिन सैम्संग की हड़ताल ख़त्म होने पर यह आह्वान भी वापस हो गया। हड़ताल मज़दूरों के लिए सशक्त हथियार है, लेकिन सीटू जैसी संशोधनवादी ट्रेड यूनियनें इस हथियार पर लगातार ज़ंग की परत चढ़ाने का काम करती हैं। इनके द्वारा मज़दूरों के सारे गुस्से को एक या दो दिवसीय रस्मी हड़ताल तक सीमित कर दिया जाता है। इससे मज़दूर आन्दोलन को कमतर करने और मज़दूरों के उस अग्रणी हिस्से को, जो हड़ताल में बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं, और उनके गुस्से को ग़लत दिशा दे दी जाती है। वहीं सीटू अपनी आका पार्टी सीपीएम पर कभी सवाल खड़ा नहीं करती और न ही कर सकती है। बता दें कि सीपीएम ने तमिलनाडु की स्टालिन सरकार को भी अपना समर्थन दिया हुआ है जो जी-जान से हड़ताल को तोड़ने में सैम्संग प्रबन्धन के साथ लगी हुई थी।

अपने को मज़दूरों का हितैषी बताने वाले मज़दूर वर्ग के ग़द्दार, जब मज़दूर-विरोधी बिल संसद में पास हो रहे होते हैं, तब ये लोग अपने मुँह में दही जमा कर बैठ जाते हैं, तब इनकी आका पार्टी के मुँह से एक शब्द तक नहीं निकलता और अगर शब्द निकलते भी हैं तो वे ज़ुबानी जमाखर्च से ज़्यादा कुछ नहीं होते। सोचने की बात है कि सीपीआई, सीपीएम व सीपीआई(एमएल) लिबरेशन जैसे संसदीय वामपन्थियों समेत सभी पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियाँ संसद और विधानसभाओं में हमेशा मज़दूर-विरोधी नीतियाँ बनाती आयी हैं, तो फिर इनसे जुड़ी ट्रेड यूनियनें मज़दूरों के हक़ों के लिए कैसे लड़ सकती हैं? ज़्यादा से ज़्यादा संशोधनवादी पार्टियों से जुड़ी ये ट्रेड यूनियनें रस्मी प्रदर्शन या विरोध की नौटंकी ही करती हैं। इनका मज़दूर वर्ग व आन्दोलन से ग़द्दारी का लम्बा इतिहास रहा है। नन्दीग्राम-सिंगूर से लेकर कई जगहों पर इन्हीं संशोधनवादियों ने मज़दूर व ग़रीब किसानों के आन्दोलनों को कुचलने का काम किया है। तो इनकी ट्रेड यूनियनों से किसी आन्दोलन को आगे लेकर जाने की उम्मीद करना बेमानी होगा। ऐसी ट्रेड यूनियनें इस व्यवस्था के लिए सुरक्षा कवच का काम करती हैं और ऐसी रस्मी कवायदों व अनुष्ठानो के ज़रिये और सिर्फ़ वेतन-भत्ते की लड़ाई तक समूची मज़दूरवर्गीय राजनीति को सीमित कर मज़दूर आन्दोलन को गड्ढे में ले जाने का काम करती हैं।

आज देखा भी जाये तो इन ग़द्दार यूनियनों का आधार सिर्फ़ संगठित क्षेत्र के मज़दूरों के बीच है, जो कुल मज़दूर आबादी का महज़ 7 प्रतिशत है और अब स्थायी मज़दूरों के बीच से भी इनका आधार ख़त्म होता जा रहा है। इस आन्दोलन को भी इन्होंने स्थायी मज़दूरों तक ही सीमित रखा। असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की माँगें इनके माँगपत्रक में निचले पायदान पर आती हैं और इस क्षेत्र के मज़दूरों का इस्तेमाल महज़ भीड़ जुटाने के लिए किया जाता है। ऐसी एक दिनी हड़तालें मज़दूरों के गुस्से को शान्त करने के लिए आयोजित की जाती हैं, ताकि कहीं मज़दूर वर्ग के क्रोध की संगठित शक्ति से इस पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचे को ख़तरा न हो।

आगे का रास्ता

सैम्संग मज़दूरों की यह हड़ताल इस बात को और पुख़्ता करती है कि आज के नवउदारवादी पूँजीवाद के दौर में सिर्फ़ अलग-अलग कारख़ानों में अलग से हड़ताल करके जीतना बहुत ही मुश्किल है। अगर आज मज़दूर आन्दोलन को आगे बढ़ाना है तो इलाक़े व सेक्टर के आधार पर सभी मज़दूरों को अपनी यूनियन व संगठन बनाने होंगे, इसके ज़रिये ही कारख़ानों में यूनियनों को भी मज़बूत किया जा सकता है और कारख़ाना-आधारित संघर्ष भी जीते जा सकते हैं। इसी आधार पर ठेका, कैजुअल, परमानेण्ट मज़दूरों को साथ आना होगा और अपने सेक्टर और इलाक़े का चक्का जाम करना होगा। तभी हम मालिकों और सरकार को सबक़ सिखा पायेंगे। दूसरा सबक़ जो हमें स्वयं सीखने की ज़रूरत है वह यह है कि बिना सही नेतृत्व के किसी लड़ाई को नहीं जीता जा सकता है। भारत के मज़दूर आन्दोलन में संशोधनवादियों के साथ-साथ कई अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भी मौजूद हैं, जो मज़दूरों की स्वतःस्फूर्तता के दम पर ही सारी लड़ाई लड़ना चाहते हैं और नेतृत्व या संगठन की ज़रूरत को नकारते हैं। ऐसी सभी ग़ैर-सर्वहारा ताक़तों को भी आदोलन से बाहर करना होगा। भयंकर पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न और अपमान से कसमसा रहे मज़दूर वर्ग को यह समझना होगा कि अपने तमाम लाव-लश्कर के बावजूद पूँजीवाद का कवच अभेद्य नहीं है। यदि मज़दूर वर्ग सही राजनीति और क्रान्तिकारी नेतृत्व के तहत संगठित होकर लड़े और व्यापक मेहनतकश अवाम की अगुवाई करे तो इस व्यवस्था को चूर-चूर किया जा सकता है। सैम्संग कम्पनी के मज़दूरों की हड़ताल हमें सबक़ देती है कि बिना व्यापक एकता के आज के दौर में जीत सम्भव नहीं है या फिर बहुत मुश्किल है। आज हमें अपनी एकता को व्यापक बनाना के लिए पूरे इलाक़े व सेक्टर के मज़दूरों के बीच प्रचार कर उन्हें जोड़ना होगा, इलाक़ाई और सेक्टरगत यूनियनें खड़ी करनी होंगी और बड़े पैमाने पर इलाक़े का चक्का ज़ाम करना होगा, तभी ऐसी लड़ाइयों को जीता भी जा सकता है।

सवाल उठता है कि लाखों-लाख सदस्य होने का दावा करने वाली ये बड़ी-बड़ी यूनियनें करोड़ों मज़दूरों की ज़िन्दगी से जुड़े बुनियादी सवालों पर भी कोई जुझारू आन्दोलन क्यों नहीं कर पातीं? अगर इनके नेताओं से पूछा जाये तो ये बड़ी बेशर्मी से इसका दोष भी मज़दूरों पर ही मढ़ देते हैं। दरअसल, ट्रेड यूनियनों के इन मौक़ापरस्त, दलाल, धन्धेबाज़ नेताओं का चरित्र इतना नंगा हो चुका है कि मज़दूरों को अब ये ठग और बरगला नहीं पा रहे हैं। एक जुझारू, ताक़तवर संघर्ष के लिए व्यापक मज़दूर आबादी को संगठित करने के लिए ज़रूरी है कि उनके बीच इन नक़ली मज़दूर नेताओं का, लाल झण्डे के इन सौदागरों का पूरी तरह पर्दाफ़ाश किया जाये। ('मज़दूर बिगुल', अप्रैल, 2022 से)

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

हिमाचल प्रदेश में संघी लंगूरों का उत्पात और कांग्रेस सरकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता

● आशीष

हिमाचल प्रदेश में अभी विगत दिनों देवभूमि संघर्ष समिति बैनर तले फ़ासीवादी आरएसएस एवं विश्व हिन्दू परिषद से सम्बन्ध रखने वाले गिरोह ने साम्प्रदायिक नफ़रत के खेल को खुले तौर पर अंजाम दिया। राज्य की कांग्रेस सरकार इस साम्प्रदायिक घटना से निपटने में न सिर्फ़ नाकाम रही, बल्कि विधानसभा के भीतर कांग्रेस पार्टी का एक विधायक स्वयं दंगाइयों की भाषा बोल रहा था। राज्य की कांग्रेस सरकार के इस बर्ताव पर अब वे लोग क्या कहेंगे, जो विधान सभा चुनावों में भाजपा की हार से आह्लादित होकर कांग्रेस की जीत को फ़ासीवाद की पराजय के तौर बताते नहीं थकते हैं और राज्यों में भाजपा की चुनावी जीत के बाद छाती पीट-पीटकर विलाप करने लगते हैं। फ़ासीवादी हमलों के समक्ष हिमाचल में कांग्रेस सरकार की दयनीय हालत पर हम आगे चर्चा करेंगे। उसके पहले संघियों द्वारा मचाये गये उत्पात पर बात करते हैं।

हिमाचल में मुसलमानों एवं अप्रवासियों के विरुद्ध लगातार नफ़रत एवं साम्प्रदायिक तनाव भड़काने की जुगत मे संघी लगे रहते हैं। शिमला के संजौली उपनगर की मस्जिद को लेकर विवाद इसका सबसे हालिया उदाहरण है। मस्जिद में कथित अवैध निर्माण के मामले पर जमकर बवाल हुआ। एक रिपोर्ट के अनुसार बरसों से चले आ रहे इस विवाद को हाल में हवा तब मिली जब 30 अगस्त को शिमला के मल्याणा में एक 37 वर्षीय शख़्स विक्रम सिंह के साथ एक मुस्लिम युवक और उसके दोस्तों ने मारपीट की। इस झड़प में विक्रम सिंह बुरी तरह ज़ख्मी हो गया था। पुलिस ने इस केस में छह आरोपियों को गिरफ़्तार किया था। आरोप है कि आरोपी हमले के बाद मस्जिद में आकर छुप गये थे। उसके बाद फ़ासीवादी संगठनों ने संजौली में प्रदर्शन किया और मस्जिद को अवैध बताते हुए गिराने की माँग की। मारपीट की घटना के अगले ही दिन उन्मादी भीड़ इस मस्जिद के सामने पहुँची और हनुमान चालीसा का पाठ किया। इसके बाद पूरे प्रदेश में भाजपा-आरएसएस के लोग सक्रिय होकर साम्प्रदायिक तनाव को तूल देने में जुट गये। राज्य में कई रैलियाँ आयोजित की गयीं, जिनमें कुल्लू, पांवटा साहिब, सुन्नी, घुमारवीं और पालमपुर जैसी जगहों को निशाना बनाया गया। पालमपुर में एक रैली के दौरान, मुसलमान दुकानदारों को परेशान किया गया। इन गुण्डों ने सोशल मीडिया पर वीडियो और फ़ोटो साझा किये जिसमें बन्द पड़ी मुस्लिम दुकानों के शटर पर लाल रंग से क्रॉस का चिन्ह बनाया जा रहा था।

11 सितम्बर के दिन संजौली में संघियों द्वारा बड़े प्रदर्शन को अंजाम दिया गया। हज़ारों की तादाद में जुटी उग्र उन्मादी भीड़ ने सड़कों पर बैरिकेडिंग तोड़ी और क़रीब पाँच घण्टों तक नारेबाज़ी की। यह हिंसक भीड़ मस्जिद के 100 मीटर के दायरे तक पहुँच गयी। इस दौरान शहर में तनाव का माहौल बना। उन्मादियों और पुलिस में झड़प भी हुई जिसमें कई घायल हुए। मस्जिद के जिस ढाँचे को तोड़ने की बात हो रही है, उसके विषय में मज़ेदार बात यह है कि भाजपा की भूतपूर्व सरकार ने मस्जिद के लिए सरकार की ओर से लाखों रुपये का वित्तीय सहयोग किया था! यह मामला सालों से अदालत में चल रहा था। एक स्थानीय अदालत ने पिछले दिनों अवैध निर्माण को हटाने का निर्देश दिया है जिस पर वक़्फ़ बोर्ड ने अमल करने की बात कही है।

इसके बाद 13 सितम्बर को हिमाचल प्रदेश के मण्डी शहर में जेल रोड इलाक़े में स्थित एक मस्जिद में कथित अवैध निर्माण को लेकर एक और विरोध प्रदर्शन हुआ। फ़ासीवादी गिरोह ऐसे मौक़े पर हर विवाद को साम्प्रदायिक रंग देने की फ़िराक में लगे रहते हैं। किसी ने कांगड़ा ज़िले में नगरोटा बगवाँ के गाँधी मैदान के समीप स्थित एक शिवालय में स्थापित शिवलिंग को तोड़ दिया। इस घटना पर भी संघियों ने क्षेत्र में तनाव का पूरा माहौल बनाया। इलाक़े से मुसलामानों के घरों और दुकानों को खाली करवाने की माँग की। बाद में पता चला कि शिवलिंग तोड़ने की घटना को एक हिन्दू महिला ने अंजाम दिया था और उसकी मानसिक दशा ठीक नहीं थी।

आरएसएस-भाजपा द्वारा निर्देशित इन प्रदर्शनों के दौरान विवादित और आपत्तिजनक नारे भी लगाये गये। पूरे राज्य में मुस्लिमों एवं प्रवासियों के ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक नफ़रत का माहौल बनाया गया। हिमाचल एवं पूरे देश में साम्प्रदायिक फ़ासीवादी वारदातों को अंजाम देने की वजहों को समझने और साथ ही इसके विरुद्ध संघर्ष की रणनीति को समझने के लिहाज़ से राहुल फ़ाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक "फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?" अच्छी किताब है। इस पुस्तक के लेखक अभिनव लिखते हैं "इतिहास गवाह है कि संकट के दौरों में, जब संसाधनों की "कमी" (क्योंकि यह वास्तविक कमी नहीं होती, बल्कि मुनाफ़ा-आधारित व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी कृत्रिम कमी होती है) होती है, तभी धार्मिक और जातीय अन्तरविरोध तथा टकरावों के पैदा होने और बढ़ने की सम्भावना सबसे ज़्यादा होती है। अगर जनता के सामने वर्ग अन्तरविरोध साफ़ नहीं होते और उनमें वर्ग चेतना की कमी होती है तो उनके भीतर किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के लोगों के प्रति अतार्किक प्रतिक्रियावादी गुस्सा भरा जा सकता है और उन्हें इस भ्रम का शिकार बनाया जा सकता है कि उनकी दिक़्क़तों और तकलीफ़ों का कारण उस विशेष सम्प्रदाय, जाति या धर्म के लोग हैं।" हिमाचल में फ़ासीवादी लंगूरों द्वारा मचाये गये उत्पात को इन्हीं सन्दर्भों में देखा जाना चाहिए।

घटना पर कांग्रेस सरकार की मौक़ापरस्ती और किंकर्तव्यविमूढ़ता

हिमाचल प्रदेश में भड़काये गये साम्प्रदायिक तनाव को नियन्त्रित करने में राज्य में सत्तासीन कांग्रेस सरकार बुरी तरह विफल रही। बेशर्मी तो तब हो गयी जब विधानसभा के भीतर कांग्रेसी सरकार के मन्त्री व पार्टी के नेता अनिरुद्ध सिंह ने फ़ासीवादी गिरोह के पक्ष में तुष्टीकरण एवं अल्पसंख्यक समुदाय के बारे में नफ़रती भाषा का इस्तेमाल किया। उत्तर प्रदेश में काँवड़ यात्रा के समय जिस प्रकार दुकानों पर नाम लिखने का आदेश दिया गया था उसी प्रकार यहाँ उन्मादी गिरोह को खुश करने के लिए हिमाचल सरकार ने भी ऐसे आदेश दिये। हालाँकि मन्त्री महोदय ने इस आदेश को किसी दूसरे राज्य के तर्ज़ पर होने की बात को ख़ारिज किया। इस आदेश को लागू करवाने के लिए एक समिति का गठन भी कर दिया गया। धर्मनिरपेक्षता की डींगें हाँकने वाली कांग्रेस की असलियत एक बार फिर सामने आ गयी है। चारों ओर हो रही आलोचना के बाद कांग्रेस के केन्द्रीय नेतृत्व के हस्तक्षेप के बाद राज्य सरकार ने इस आदेश को वापस ले लिया। हिमाचल प्रदेश की घटना ने कई बातों को एक बार फिर से रेखांकित किया है। मसलन, कांग्रेस पार्टी की जीत और भाजपा की हार पर खुशफ़हमी के शिकार बुद्धिजीवियों की बातों पर हमें विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए। यह सच है फ़ासिस्टों की हर प्रकार की पराजय मज़दूरों एवं आम जनता के लिए सकारात्मक बात है चाहे वह चुनावी हार क्यों न हो क्योंकि इससे मज़दूरों-मेहनतकशों और क्रान्तिकारी शक्तियों को तात्कालिक तौर पर थोड़ी राहत और मोहलत मिलती है, किन्तु किसी भी बात पर आवश्यकता से अधिक अतार्किक खुशी अगले ही चक्र में अधिक दुख और हताशा का कारण भी बनती है। आज के नवउदारवादी दौर में फ़ासीवादी शक्तियाँ जब सरकार से बाहर भी होती हैं तो उनकी आक्रामकता में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं होता है, केवल मात्रात्मक अन्तर ही होता है। इसलिए हमें फ़ासीवाद के विरुद्ध फ़ैसलाकुन लड़ाई की तैयारी से अपना ध्यान नहीं हटाना चाहिए।

साथ ही, यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि कांग्रेस पार्टी बड़ी पूँजी की नुमाइन्दगी करने वाली सबसे पुरानी पार्टी है। मालिकों के हित को पोषित करने के लिए समय-समय पर यह पार्टी भी आवश्यकता अनुसार साम्प्रदायिकता का सहारा लेती रही है। आज के पूँजीवादी संकट के दौर में पूँजी के हितों को साधने के लिए फ़ासीवादी भाजपा मालिकों के समूचे वर्ग के लिए सबसे अच्छा विकल्प है। इसलिए हमें फ़ासीवाद-विरोधी संघर्ष में कांग्रेस या अन्य किसी भी चुनावबाज़ पार्टी से कोई उम्मीद नहीं करनी चाहिए।

लगातार बढ़ते फ़ासीवादी हमलों का मुक़ाबला कैसे किया जाये?

फ़ासीवादी आक्रमण का मुक़ाबले करने के सन्दर्भ में एक बेहद महत्वपूर्ण बात यह है कि आज क्रान्तिकारी शक्तियों को मेहनतकश वर्गों को उनके जीवन के ठोस मसलों पर संगठित और गोलबन्द करना होगा। उनकी समस्याओं पर ठोस कार्यक्रम पेश करते हुए ठोस नारे देने होंगे। फ़ासीवाद के मुक़ाबले के लिए इसके उभार के कारणों को समझते हुए लोगों के बीच लगातार इसके ख़िलाफ़ जुझारू प्रचार करना होगा। फ़ासीवादियों के इतिहास और वर्तमान से सम्बन्धित हर झूठ और फ़रेब को नंगा करना होगा और साथ ही पूँजीवाद के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे के सच्चाई को लोगों के सामने उजागर करना होगा, वही पूँजीवाद जो फ़ासीवाद को विशिष्ट आर्थिक राजनीतिक स्थितियों में जन्म देता है। यह काम फ़ासीवादी ताक़तों के नक़ली प्रचार और उनके द्वारा राजनीति के सौन्दर्यीकरण की फ़ासीवादी मुहिम को ध्वस्त करने के लिए बेहद ज़रूरी है। इसके साथ-साथ यह भी समझना होगा कि हमें फ़ासीवादी साम्प्रदायिक राजनीति का जवाब सच्ची धर्मनिरपेक्ष राजनीति से देना होगा जो धर्म के राजनीति और सामाजिक जीवन से पूर्ण विलगाव पर आधारित होगी।

इसके अलावा फ़ासीवादी राजनीति और विचारधारा के वास्तविक एजेण्डे के बारे में आम लोगों को सचेत करना होगा और बताना होगा कि यह राजनीति केवल और केवल पूँजीपतियों और विशेष तौर पर बड़ी पूँजी की चाकरी में संलग्न है और मेहनतकशों की एकता को धर्म और जाति के नाम पर तोड़ने का काम इसी मक़सद के लिए करती है। साथ ही आज यह समझ लेना भी ज़रूरी है कि मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता की शक्तिशाली जुझारू एकता के बग़ैर फ़ासीवाद का प्रभावशाली तरीक़े से मुक़ाबला करना सम्भव नहीं है, इसलिए मज़दूर वर्ग को सचेत करना तथा इसकी एकता क़ायम करना आज फ़ासीवाद के विरुद्ध हमारे सबसे ज़रूरी कार्यभारों में से एक है। इसके साथ ही, आबादी के निम्न मध्यम वर्गीय हिस्सों को भी हमें अपने क्रान्तिकारी प्रचार के ज़रिये समेटना होगा और उन्हें गोलबन्द करने के नये तरीक़े ईजाद करने होंगे क्योंकि यही वह तबक़ा है जो अपने जीवन की अनिश्चिता और असुरक्षा के कारण फ़ासीवादी प्रचार से सबसे अधिक और सबसे पहले प्रभावित होता है।

जनता के सच्चे नायकों और फ़ासीवादियों में अन्तर

लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की ज़रूरत है। ग़रीब मेहनतकश व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी ग़रीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताक़त अपने हाथ में लेने का यत्न करो। इन यत्नों में तुम्हारा नुक़सान कुछ नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी जंजीरें कट जायेंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।

– भगतसिंह

(साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज)

ये देखिये, मोदी के गुरुजी के विचार क्या थे...

"हिन्दुओ, ब्रिटिश से लड़ने में अपनी ताक़त बर्बाद मत करो। अपनी ताक़त हमारे भीतरी दुश्मनों यानी मुसलमानों, ईसाइयों और कम्युनिस्टों से लड़ने के लिए बचाकर रखो।"

– एम.एस. गोलवलकर
(आर.एस.एस. के दूसरे सरसंघचालक)

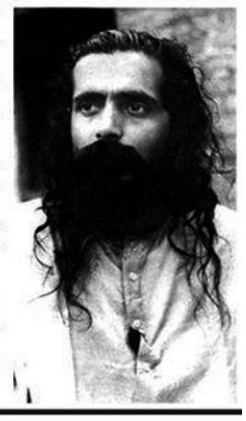

आख़िर कब तक उत्तर बिहार की जनता बाढ़ की विभीषिका झेलने को मजबूर रहेगी?

● विवेक

विभिन्न स्रोतों से मिली जानकारी के मुताबिक बिहार के लगभग 12 ज़िलों के क़रीब 16 लाख लोग नदियों का जलस्तर बढ़ने के कारण आयी बाढ़ से प्रभावित हुए हैं। सिर्फ़ 23 सितम्बर को नदियों के जलस्तर में हुई अचानक वृद्धि से आयी बाढ़ के कारण क़रीब दस लोगों की मौत हुई। सैंकड़ों की तादाद में नदियों के किनारे बने मकान ढह गये, हज़ारों हेक्टयर में लगी धान और अन्य खरीफ़ फ़सलें बर्बाद हो गयीं। आश्चर्य की बात यह है कि इस बार बिहार में औसत से क़रीब 28 फ़ीसदी कम बारिश हुई है, इसके बावजूद उत्तर बिहार के अधिकांश ज़िलों को बाढ़ की विभीषिका झेलनी पड़ी। अक्तूबर की शुरुआत तक कई इलाक़ों में लोग राहत शिविरों की दयनीय स्थितियों में रहने को मजबूर थे। इतनी बड़ी विभीषिका के घटित होने के बावजूद क्षेत्रीय मीडिया को छोड़ दिया जाये तो राष्ट्रीय स्तर की मुख्यधारा की मीडिया (पढ़े 'गोदी मीडिया') के लिये यह ख़बर ही नहीं बनी। बाढ़ से पीड़ित लगभग 16 लाख लोगों को उनके हाल पर छोड़ दिया गया। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं था कि "तिरुपति के लड्डू में इस्तेमाल होने वाले घी में मिलावट" की अफ़वाह राष्ट्रीय स्तर पर बहस का मुद्दा बन गयी, लेकिन उसी समय बाढ़ से प्रभावित 16 लाख लोगों की पीड़ा को दरकिनार कर दिया गया। राज्य सरकार ने भी वही किया, जो वह हर साल करती है, बड़े अधिकारियों और मंत्रियों ने बाढ़ ग्रस्त इलाक़ों का "हवाई दौरा" किया और "बाढ़ से पीड़ितों के पुनर्वास" के हर सम्भव प्रयास की कोशिश के लिए वायदे कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली। पुनर्वास योजनाओं में वही होगा, जो अक्सर होता है, सरकारी राशि की भ्रष्ट अधिकारियों और नेताओं द्वारा बंदरबाँट होगी, ज़रूरतमंद लोगों के हिस्से में कुछ आ भी जाये तो गनीमत है!

बिहार में बाढ़ का आना नयी समस्या नहीं है, क़रीब हर साल उत्तर बिहार के ज़्यादातर ज़िलों को बाढ़ की विभीषिका झेलनी पड़ती है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इस समस्या का कोई हल नहीं है? क्या बाढ़ की विभीषिका को कम नहीं किया जा सकता है? इन प्रश्नों की पड़ताल करने के लिए बाढ़ के कारणों को समझना होगा।

राज्य सरकार के फ़्लड मैनेजमेंट इमप्रूवमेंट सपोर्ट सेंटर (एफएमआईएससी) के अनुसार, बिहार भारत का सबसे अधिक बाढ़ प्रभावित राज्य है। उत्तरी बिहार की 76 प्रतिशत आबादी बाढ़ के ख़तरे में रहती है। पूरे देश के कुल बाढ़ प्रभावित क्षेत्रफल का लगभग 22 फ़ीसदी हिस्सा अकेले बिहार में है। इसमें बिहार की भौगोलिक स्थिति का बड़ा योगदान है, जिसकी संक्षिप्त चर्चा नीचे की गयी है।

महानंदा, गंडक, कोसी, बागमती और बूढ़ी गंडक उत्तर बिहार में बहने वाली प्रमुख नदियाँ हैं। ये नदियाँ नेपाल में अवस्थित हिमालय से निकलती हैं, इसलिए इनमें जल का मुख्य स्रोत हिमालय में अवस्थित अलग-अलग हिमनद है। इसलिए पूरे साल इन नदियों में पानी बरक़रार रहता है। मॉनसून के वक़्त मे अत्यधिक वर्षा से इन नदियों का जल स्तर बढ़ जाता है जो बाढ़ का मुख्य कारण बनती है। बाढ़ की समस्या से निजात पाने के लिए तत्कालीन सरकारों ने अदूरदर्शी क़दम उठाये, जिसका ख़ामियाज़ा आज तक उठाना पड़ रहा है। उत्तर बिहार मे बहने वाली उपरोक्त वर्णित नदियाँ अपने साथ बड़े पैमाने पर तलछट और गाद (सिल्ट) लेकर आती हैं। बाढ़ से बचने के उपाय के तौर पर आज़ादी के बाद उत्तर बिहार में नदियों के किनारे तटबन्ध बनाये गये। तटबन्ध बनने से कोसी एवं अन्य नदियों का विस्तार सीमित हो गया, जिसके कारण इन नदियों के साथ बहकर आयी तलछट नदी की तलहटी में बैठती चली गयी और नदियाँ छिछली होती चली गयीं। ज़ाहिरा तौर पर मॉनसून के दौरान इन नदियों का जलस्तर बढ़ने के कारण तटबंध के द्वारा भी बाढ़ का पानी रुक नहीं पाता है। *'डाउन टू अर्थ'* पत्रिका की वेबसाइट पर छपी ख़बर के अनुसार 30 सितम्बर को क़रीब सात जगहों पर तटबंध बाढ़ के पानी को रोकने में असफल रहे।

इस बार जब नेपाल में हिमालय के निचले हिस्सों में ज़ोरदार बारिश हुई तो कोसी नदी का जलस्तर इतना बढ़ गया कि नदी के जल प्रवाह पर नियंत्रण के लिए भारत-नेपाल सीमा पर बने कोसी बराज के सारे 56 स्लुइस फाटकों को खोलना पड़ा और क़रीब 6.61 लाख क्यूसेक पानी उत्तर बिहार की ओर छोड़ दिया गया। नतीजतन, उत्तर बिहार के नेपाल सीमा से सटे जिलों में बाढ़ आ गयी।

राष्ट्रीय बाढ़ आयोग (आरबीए) की स्थापना भारत में बाढ़-नियंत्रण के उपायों का अध्ययन करने के लिए 1976 में कृषि और सिंचाई मंत्रालय द्वारा की गयी थी। इसने भी अपनी रिपोर्ट में कहा था कि हाल के वर्षों में भारत में वर्षा में कोई वृद्धि नहीं हुई है, अत: बाढ़ के लिए मानवजनित कारक ही ज़िम्मेदार हैं। उत्तर बिहार में हर वर्ष आने वाली बाढ़ के लिए यह सत्य सिद्ध हुआ है। अक्सर यह देखा जाता है कि उत्तर बिहार में आने वाली बाढ़ को प्राकृतिक समस्या बताकर सत्ता में नेता-मंत्री अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। हालाँकि गहराई से इसकी पड़ताल करने पर यह पता चलता है कि यह महज़ किसी प्राकृतिक आपदा के कारण होनी वाली परेशानी नहीं है बल्कि इसके लिए ज़िम्मेदार सत्ता में बैठे लोगों द्वारा अतीत में लिए गये अदूरदर्शी एवं ग़लत निर्णय भी है जिनमें आज भी कोई सुधार नहीं किया जा रहा है।

ख़ैर, 1976 में राष्ट्रीय बाढ़ आयोग की उपरोक्त रिपोर्ट आने के बाद बाढ़ की विभीषिका की रोकथाम के लिए न ही केन्द्र में बैठने वाली कांग्रेस सरकारों ने ही कुछ किया और न ही भाजपा सरकार ने कोई ख़ास क़दम उठाया।

इसके अलावा आपदा प्रबन्धन को लेकर बिहार की राज्य सरकार द्वारा जितने दावे किए जाते है, उसकी भी पोल इस वर्ष बाढ़ के दौरान खुल गयी। अगर बिहार में आपदा प्रबन्धन तंत्र इतना ही मज़बूत है तो आख़िर क्यों बाढ़ की पूर्वसूचना होते हुए भी इससे निपटने के उपायों का अभाव था? बाढ़ से इतनी बड़ी मात्रा में फ़सलों सहित अन्य संसाधनों को हुए नुक़सान को क्यों नहीं बचाया जा सका? और राहत शिविरों के ऐसे दयनीय हालात क्यों थे? इन प्रश्नों का उत्तर राज्य सरकार को देना होगा।

अंत में...

बाढ़ के कारण कृषि पर निर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था चरमरा जा जाती है। चूंकि बाढ़ के कारण कृषि कार्य रुक जाते हैं, इसलिए कृषि पर निर्भरता घाटे का सौदा बन जाती है। बहुसंख्यक छोटी जोत वाले किसान और भूमिहीन खेतिहर मज़दूर राज्य के बाहर बड़े शहरों का रुख करते हैं जिससे कि उनका और उनके परिवार का गुज़ारा चल सके। सीधे शब्दों में कहें तो बाढ़ के कारण भी बिहार से बड़ी संख्या में मेहनतकश आबादी का पलायन होता है। अगर बाढ़ की विभीषिका से बचने के सफल उपाय किये जायें तो बाढ़ के कारण होने वाले पलायन को भी एक हद तक रोका जा सकता है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था की यही हक़ीक़त है कि इसमें आम मेहनतकश आबादी की समस्याओं को हमेशा दरकिनार किया जाता है। प्राकृतिक आपदाओं के दौरान आपदा प्रबन्धन के सम्बन्ध में समाजवादी सोवियत यूनियन (1956 के पहले के), समाजवादी चीन (1976 के पहले के) और एक हद तक क्यूबा के उदाहरण दिये जा सकते है, जहाँ ऐसी प्राकृतिक आपदाओं से निपटने के लिए वैज्ञानिक नज़रिया और ठोस नीतियाँ मौजूद थीं।

आज विज्ञान और टेक्नोलॉजी जिस हद तक आगे बढ़ चुकी है, उसका उपयोग कर ऐसी प्राकृतिक आपदाओं के प्रभावों को कम किया जा सकता है। हालाँकि जैसा कि पहले भी कहा पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत भी उत्पादक शक्तियों के विकास के कारण ऐसा सम्भव होते हुए भी इसे नहीं किया जाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। हमें सत्ता में बैठी सरकारों को इन मसलों पर घेरते हुए उनसे सवाल करना होगा और पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा करना होगा। बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदा के प्रभावों को नियंत्रित करने के लिए हमें सरकारों को मजबूर करना होगा।

'हरियाणा विधानसभा चुनाव – 2024' में भाजपा की जीत के मायने और मज़दूरों-मेहनतकशों के स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष की ज़रूरत

(पेज 8 से आगे)

और जनमत की चोरी का पहलू भी बखूबी जुड़ चुका है लेकिन यदि चुनाव पूरी तरह से साफ़-सुथरे हों तो भी चुनी जाने वाली कोई भी सरकार पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी से ज़्यादा और कुछ नहीं होती। केवल अपवादस्वरूप स्थिति में ही कोई क्रान्तिकारी शक्ति पूँजीवादी चुनावों में विजयी हो सकती है, हालाँकि इससे भी समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की प्रक्रिया नहीं पूरी होती। आरडब्ल्यूपीआई का यह स्पष्ट मानना है कि वर्ग संघर्ष के हर मोर्चे और समाज के हर क्षेत्र में मेहनतकश जनता के स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष की उपस्थिति ज़रूरी है चाहे वह संसद-विधानसभा का ही मंच क्यों न हो। संसद और विधानसभा में रणकौशालात्मक भागीदारी के ज़रिये और उनके चुनावों तथा उनके मंच पर मेहनतकशों-मज़दूरों के स्वतन्त्र पक्ष की मौजूदगी के ज़रिये ही पूँजीवादी जनतन्त्र के सीमान्तों को उजागर किया जा सकता है। लेकिन RWPI की क्रान्तिकारी गतिविधियाँ मुख्य तौर पर इस चुनावी संघर्ष से नहीं बल्कि जनता के क्रान्तिकारी जनान्दोलनों व वर्ग संघर्ष से निर्धारित होती हैं और चुनावों व संसद-विधानसभा के मंच पर होने वाला संघर्ष भी इसी क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष व जनान्दोलनों से निर्धारित होता है व इसके अधीन होता है।

रोडवेज़ के निजीकरण का मुद्दा हो या कॉलेजों की बढ़ी हुई फ़ीसों का, निजीकरण का मुद्दा हो या ठेकाकरण का, सरकारी भ्रष्टाचार हो या नौकरशाही का भ्रष्टाचार, ग़रीब किसानों की लूट हो या मज़दूरों-कर्मचारियों का दमन-शोषण, दलितों के उत्पीड़न-शोषण के मामले हों या स्त्रियों के उत्पीड़न के मुद्दे हों, भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) ने विभिन्न जन-संघर्षों में यथासम्भव भागीदारी की है और कई जगहों पर इन संघर्षों को नेतृत्व भी दिया है। हरियाणा की जनता को यह बात समझनी होगी कि मज़दूरों, कर्मचारियों, ग़रीब किसानों, छात्रों, युवाओं, स्त्रियों समेत कमेरों के संघर्षों की दम पर ही भाजपा की फ़ासीवादी और जनविरोधी राजनीति को सही मायनों में टक्कर दी जा सकती है। किसी भी अन्य पूँजीवादी दल के भरोसे बैठे रहने से हमें हमारे हक़ नहीं मिलने वाले हैं। हमें अपना स्वतन्त्र क्रान्तिकारी राजनीतिक विकल्प खड़ा करना होगा तथा मज़बूत करना होगा जिसमें हम पहले ही बहुत देर कर चुके हैं। एक ऐसा विकल्प जो सड़कों से लेकर संसद तक के संघर्षों में मेहनतकश जनता के हितों की नुमाइन्दगी कर सके। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) जनता का ऐसा ही विकल्प बनने के लिए प्रतिबद्ध है।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) ने हरियाणा में एक सीट से अपने उम्मीदवार को खड़ा किया था। उचाना कलां विधानसभा क्षेत्र से कॉमरेड रमेश खटकड़ कमेरे पक्ष के प्रत्याशी के तौर पर चुनाव लड़ रहे थे। हमें यहाँ कुल 127 मत प्राप्त हुए हैं। निश्चय ही यह संख्या हमारी अपेक्षा से काफ़ी कम है। लेकिन इस बार हमने अपेक्षाकृत नये इलाक़े से चुनाव में शिरक़त की थी। दूसरा मतों का ध्रुवीकरण भी यहाँ काफ़ी तीखा था। बेहद सीमित संसाधनों और कम समय के प्रचार के बावजूद हमें 127 मत प्राप्त हुए हैं। ये राजनीतिक वोट हैं, जो RWPI के कार्यक्रम व विचारधारा के आधार पर दिये गये हैं। पूँजीवादी चुनावों में समर्थन के मतों में रूपान्तरित होने के पीछे बहुत से पहलू काम कर रहे होते हैं, जैसे जातिवाद, धनबल, बाहुबल आदि जिन्हें जनता की राजनीतिक वर्ग चेतना के स्तरोन्नयन के साथ और संघर्षों की प्रक्रिया में ही खत्म किया जा सकता है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस दौरान हम विधानसभा क्षेत्र के लाखों लोगों तक जनता का क्रान्तिकारी एजेण्डा और कमेरे तबक़ों के असली मुद्दों ले जाने में क़ामयाब रहे हैं। हमने हज़ारों पर्चे बाँटे और सैकड़ों बैठकें व नुक्कड़ सभाएँ की। सड़क के हमारे संघर्ष आगे भी लड़े जाते रहेंगे तथा जनता का स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष खड़ा करने का हमारा प्रयास भविष्य में भी जारी रहेगा।

एक बार फिर न्यूनतम वेतन बढ़ाने की नौटंकी करती सरकारें!

(पेज 1 से आगे)

मासिक वेतन 18,000 रुपये का एक-चौथाई मात्र है। यही नहीं पन्द्रहवें राष्ट्रीय श्रम सम्मलेन (1957) की सिफ़ारिशों (जिसके अनुसार न्यूनतम मज़दूरी, खाना-कपड़ा-मकान आदि बुनियादी ज़रूरतों के आधार पर तय होनी चाहिए) और सुप्रीम कोर्ट के 1992 के एक निर्णय की अनदेखी करते हुए कैलोरी की ज़रूरी खपत को 2700 की बजाय 2400 पर रखा गया है और तमाम बुनियादी चीज़ों की लागत भी 2012 की क़ीमतों के आधार पर तय की गयी है। इस कोड में 'रोज़गार सूची' को हटा दिया गया है जो श्रमिकों को कुशल, अर्द्धकुशल और अकुशल की श्रेणी में बाँटती थी। कुल मिलाकर कहें, तो अगर ये श्रम संहिताएँ लागू होती हैं तो मज़दूर वर्ग को ग़ुलामी जैसे हालात में काम करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। अभी भी 90 फ़ीसदी अनौपचारिक मज़दूरों के जीवन व काम के हालात नारकीय हैं। अभी भी मौजूद श्रम क़ानून लागू ही नहीं किये जाते, जिसके कारण इन मज़दूरों को जो मामूली क़ानूनी सुरक्षा मिल सकती थी, वह भी बिरले ही मिलती है। लेकिन अभी तक अगर कहीं पर अनौपचारिक व औपचारिक, संगठित व असंगठित दोनों ही प्रकार के मज़दूर, संगठित होते थे, तो वे लेबर कोर्ट का रुख़ कर सकते थे और कुछ मसलों में आन्दोलन की शक्ति के आधार पर क़ानूनी लड़ाई जीत भी लेते थे। लेकिन अब वे क़ानून ही समाप्त हो जायेंगे और जो नयी श्रम संहिताएँ आ रही हैं उनमें वे अधिकार मज़दूरों को हासिल ही नहीं हैं, जो पहले औपचारिक तौर पर हासिल थे। इन चार श्रम संहिताओं का अर्थ है मालिकों और कारपोरेट घरानों, यानी बड़े पूँजीपति वर्ग, को जीवनयापन योग्य मज़दूरी, सामाजिक सुरक्षा और गरिमामय कार्यस्थितियाँ दिये बग़ैर ही मज़दूरों का भयंकर शोषण करने की इजाज़त ओर मौक़ा देना। यह हमसे मानवीयता की बाक़ी शर्तों को भी छीन लेगा। यह हमें पाशविकता की ओर धकेल देगा। यह बात हर मज़दूर को समझ लेना चाहिए कि मोदी सरकार मज़दूरों की सबसे बड़ी दुश्मन है और इसलिए "मज़दूर नम्बर-1" नरेन्द्र मोदी की वेतन बढ़ाने की घोषणा का वास्तविकता से कोई लेना देना नहीं है बल्कि अमित शाह की भाषा में कहें तो यह एक जुमला है!

वहीं पिछले दिनों दिल्ली सरकार की मुख्यमन्त्री आतिशी द्वारा भी घोषणा की गयी कि दिल्ली में अब अकुशल मज़दूरों के लिए न्यूनतम वेतन 18,066 रुपये, अर्ध-कुशल मज़दूर के लिए 19,929 रुपये और कुशल मज़दूरों के लिए 21,917 रुपये होगा। दिल्ली सरकार की ओर से वेतन बढ़ोतरी की घोषणा करते हुए मुख्यमन्त्री आतिशी ने कहा कि दिल्ली में अन्य राज्यों के मुक़ाबले अधिक न्यूनतम वेतन मिलता है। दिल्ली का "काग़ज़ी न्यूनतम वेतन" भी काफ़ी कम है, आज जिस हिसाब से महँगाई है न्यूनतम वेतन 30,000 रुपये मासिक होना चाहिए। उनका दावा है कि ग़रीब लोगों का शोषण रोकने के लिए दिल्ली सरकार न्यूनतम वेतन को एक ऐतिहासिक स्तर पर लेकर गयी है। दिल्ली में आम आदमी पार्टी ने पहले भी मज़दूरों के पक्ष में कई दावे किये थे जैसे कि ठेका प्रथा को ख़त्म किया जायेगा। सरकार बनने के बाद से इस पर अरविन्द केजरीवाल ने चुप्पी साध ली और अब तो इसके बारे में बात करना भी बन्द कर दिया है। आइए थोड़ा विस्तार में समझते हैं!

न्यूनतम वेतन बढ़ाने की घोषणा दरअसल दिल्ली सरकार द्वारा आगामी विधान सभा चुनाव के मद्देनज़र फेंका गया एक जुमला ही है, क्योंकि असल में सरकार की मज़दूरों को न्यूनतम वेतन देने की कोई मंशा नहीं है। आम आदमी पार्टी को चुनाव में चन्दा देने वाली एक बड़ी आबादी दिल्ली के छोटे-बड़े दुकानदारों, फ़ैक्टरी मालिकों और ठेकेदारों की है, वह इन्हें निराश कर मज़दूरों के जीवन स्तर को नहीं सुधार सकती है। 'आप' ने दिल्ली की मज़दूर आबादी के बीच इस बढ़ोत्तरी का महज़ जुमला उछाला है, क्योंकि 'आप' सरकार भी जानती है कि न्यूनतम वेतन क़ानून लागू करवाने की मशीनरी के अभाव में बेहद छोटी-सी आबादी के बीच इस बढ़ोत्तरी का प्रभाव होगा और इक्का-दुक्का फैक्ट्री मालिक ही इसके तहत नापे जायेंगे। इसके ज़रिये उसे मज़दूरों के बीच भी वाह-वाह सुनाने को मिलेगी और मालिकों के मुनाफ़े को भी आँच नहीं आयेगी। दिल्ली में काम करने वाली मेहनतकश आबादी के बीच न तो इस क़दम की कोई सुगबुगाहट है और न ही कोई आशा है, क्योंकि वे अपने अनुभव से जानते हैं कि यह क़ानून भी लागू नहीं होने वाला है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दिल्ली के औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाली आबादी के पास यह साबित करने का कोई भी तरीक़ा नहीं है कि वे किस फैक्ट्री में काम करते हैं, अगर यह साबित हो भी जाये तो मालिक अपनी फैक्ट्री का नाम बदल देता है और बताता है कि पुरानी फैक्ट्री में तो वह मालिक ही नहीं था और इसके बाद श्रम विभाग मज़दूर पर यह ज़िम्मेदारी डाल देता है कि वह साबित करे कि मालिक कौन है। न्यूनतम वेतन में बढ़ोत्तरी के इस क़दम की घोषणा को ख़ुद विधायक और निगम पार्षद दिल्ली के औद्योगिक क्षेत्रों में प्रचारित नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वे या तो ख़ुद फैक्ट्री मालिक हैं या फिर फैक्ट्री मालिकों के चन्दे पर चुनाव लड़ते और जीतते हैं। आम आदमी पार्टी के पचास प्रतिशत से अधिक विधायक करोड़पति हैं यानी बड़े दुकानदार, व्यापारी या फैक्ट्री मालिक हैं। साफ़ है कि मज़दूरों के लिए आम आदमी पार्टी व कांग्रेस-भाजपा में कोई अन्तर नहीं है।

अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के लिए बने क़ानूनों को तो मालिक और ठेकेदार मानते ही नहीं हैं। ख़ुद सरकारी विभागों में इसका खुलेआम उल्लंघन होता है। पूरे देश में सरकारी विभागों तक में 70 प्रतिशत के क़रीब मज़दूर व कर्मचारी ठेके पर,

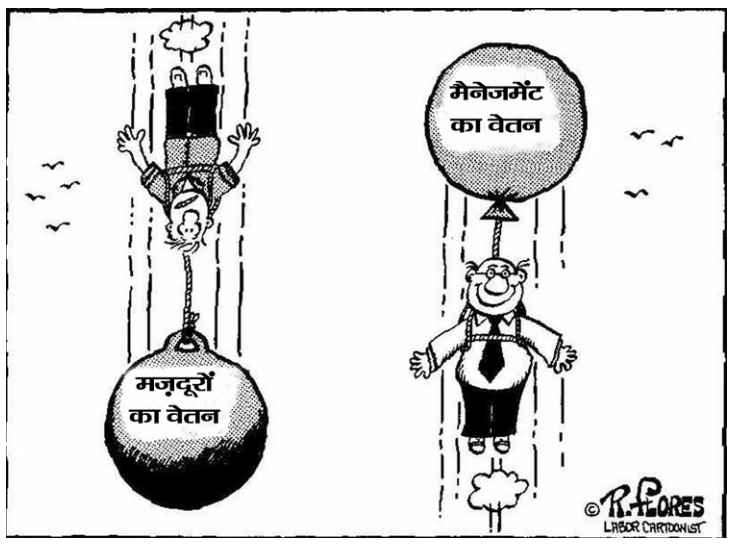

आउटसोर्सिंग, प्रोजेक्ट आदि के तहत आरज़ी तौर पर काम कर रहे हैं। सरकारी विभागों में क्लर्क, अध्यापक, टेक्निशियन आदि से हस्ताक्षर किसी राशि पर करवाये जाते हैं और दिया कुछ और जाता है। बेरोज़गारी के आलम की वजह से मजबूरी में हस्ताक्षर कर भी दिये जाते हैं। फैक्ट्रियों में मालिक मज़दूर से पहले ही ख़ाली काग़ज़ पर अँगूठा लगवाकर रख लेता है। ईएसआई कार्ड बनवाता है तो उसे हर दूसरे-तीसरे महीने रद्द करवा देता है और पुनः नया कार्ड बनवाता है, जिससे कि अगर वह किसी केस में फँसे तो दिखा सके कि फलाँ मज़दूर तो उसके यहाँ हाल में ही काम करने आया है। यह सब आम आदमी पार्टी के फैक्ट्री मालिक, व्यापारी और करोड़पति विधायकों या उनके करोड़पति समर्थकों को पता है।

दिल्ली के 27 अधिकृत औद्योगिक क्षेत्रों की फैक्ट्रियों और इसके अलावा रिहायशी क्षेत्रों में गैरक़ानूनी तरीक़े से चलने वाली फैक्ट्रियों में अपवाद को छोड़कर कहीं भी न्यूनतम वेतन का क़ानून लागू नहीं होता। सामान्यतः दिल्ली की फैक्ट्रियों में महिलाओं को 6000 से 7000 रुपये और पुरुषों को 8000 से 10000 रुपये वेतन मिलता है। क्या यह बात दिल्ली सरकार को नहीं पता है कि उनके आदेश का पालन नहीं हो रहा है? उन्हें सब पता है लेकिन लुटेरे मालिकों के वर्ग और आम आदमी पार्टी में मिलीभगत है। मज़दूरों के पक्ष में होनी वाली घोषणाओं की ही केवल यह दशा है; मालिकों के पक्ष में होने वाली घोषणाओं को सभी चुनावबाज़ पार्टियों की सरकारें पूरी तत्परता से लागू करती हैं। इसका एक हालिया उदाहरण यह है कि बवाना औद्योगिक क्षेत्र में उत्पाद को बाहर ले जाने वाले भारी वाहनों पर टैक्स लगाया गया था। इस क्षेत्र के मालिकों के एसोसिएशन की माँग पर दिल्ली सरकार ने इसे फ़ौरन वापस ले लिया और दिल्ली के उपराज्यपाल ने तुरन्त इसका अनुमोदन कर दिया। पूरे इलाक़े में आम आदमी पार्टी और भाजपा दोनों की ओर से पोस्टर लगा दिये गये और दोनों तरफ़ से इस काम का श्रेय लेने की होड़ मच गयी।

अगर सरकार की सही मायने में यह मंशा होती कि न्यूनतम वेतन में हालिया बढ़ोत्तरी वास्तविक तौर पर लागू की जाये तो सबसे पहले तो यही सवाल बनता है कि दिल्ली की 'आप' सरकार ने पुराने क़ानूनों और घोषणाओं को ही कितना लागू किया है? अगर सही मायने में सरकार की यह मंशा होती तो वह सबसे पहले हर फ़ैक्टरी में मौजूदा श्रम क़ानूनों को लागू करवाने का प्रयास करती, परन्तु पंगु बनाये गये श्रम विभाग के ज़रिये यह सम्भव ही नहीं है। एक रिपोर्ट के अनुसार कारख़ाना अधिनियम, 1948 (Factories Act, 1948) का भी पालन दिल्ली सरकार के विभागों द्वारा नहीं किया जा रहा है। निश्चित ही इस क़ानून से जिसको थोड़ा-बहुत फ़ायदा पहुँचेगा, वह सरकारी कर्मचारियों और संगठित क्षेत्र का छोटा-सा हिस्सा है, लेकिन यह हिस्सा भी लगातार सिकुड़ रहा है। दिल्ली की 65 लाख मज़दूर आबादी में क्या न्यूनतम मज़दूरी की बढ़ोत्तरी की घोषणा घरेलू कामगारों, ड्राइवरों, प्राइवेट सफ़ाईकर्मियों आदि पर लागू हो पायेगी? 90 प्रतिशत मज़दूर आबादी जो दिहाड़ी, कैजुअल, पीस रेट, ठेके पर काम कर रही है, उसे न्यूनतम मज़दूरी क़ानून के मुताबिक़ मज़दूरी मिल पा रही है या नहीं इसकी कोई भी जानकारी दिल्ली सरकार के पास नहीं है। श्रम विभाग की स्थिति की अगर बात करें तो उसके पास इतने कर्मचारी हैं ही नहीं कि सभी औद्योगिक क्षेत्रों व अन्य मज़दूरों की जाँच-पड़ताल की जा सके।

न्यूनतम वेतन का सवाल बाज़ार से और अन्ततः इस पूँजीवादी व्यवस्था से जुड़ता है। इस व्यवस्था में मज़दूरों का वेतन असल में मालिक का मुनाफ़े और मज़दूर की ज़िन्दगी की बेहतरी के लिए संघर्ष का सवाल है। वेतन बढ़ोतरी के लिए मज़दूरों को यूनियन में संगठित होकर लड़ना ही होगा। फैक्ट्री में मज़दूर को बस उसके जीवनयापन हेतु वेतन भत्ता दिया जाता है और बाक़ी जो भी मज़दूर पैदा करता है, उसे मालिक अधिशेष के रूप में लूट लेता है। अधिक से अधिक अधिशेष हासिल करने के लिए मालिक वेतन कम करने, काम के घण्टे बढ़ाने या श्रम को ज़्यादा सघन बनाने का प्रयास करते हैं और इसके ख़िलाफ़ मज़दूर संगठित होकर ही संघर्ष कर सकता है। हमें यह बात समझनी होगी कि न्यूनतम वेतन के क़ानून को भी अपनी एकता के दम पर लड़कर ही लागू कराया जा सकता है। दिल्ली में आँगनवाड़ी कर्मियों, वज़ीरपुर के स्टील मज़दूर, करावल नगर के बादाम मज़दूर हमारे सामने उदाहरण भी है जिन्होंने एकजुट होकर हड़ताल के दम पर अपना न्यूनतम वेतन बढ़वाया है। लेकिन इस माँग को उठाते हुए यह भी समझना चाहिए कि महज़ इतना ही करते रहेंगे तो चरखा कातते रह जायेंगे और वेतन-भत्ते की लड़ाई के गोल-गोल चक्कर में घूमते रह जायेंगे। महँगाई बढ़ेगी तो बढ़ी मज़दूरी फिर कम होने लगती है। इसलिए तो हर पाँच साल में दोबारा न्यूनतम मज़दूरी को बढ़ाने के लिए न्यूनतम मज़दूरी आयोग को दोबारा बनाना पड़ता है (चार लेबर कोड आने के बाद यह आयोग भी बन्द हो जायेगा) और नये सर्वे के ज़रिये नये बढ़े हुए वेतनमान की माँग को लागू करके तात्कालिक तौर पर मेहनतकशों का गुस्सा शान्त हो जाता है। क्या हमारी लड़ाई महज़ न्यूनतम वेतन लागू करवाने तक सीमित है? क़तई नहीं, दूरगामी तौर पर जनता के अगुआ हिस्सों को राजनीतिक रूप से शिक्षित करके उन्हें इस पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दियों के बारे में बताना होगा और उन्हें पूँजीवादी व्यवस्था की 'शोषण की व्यवस्था का नाश करने' की माँग के बारे में शिक्षित करते हुए संघर्ष को आगे बढ़ाना होगा। जब तक हम यह नहीं करते हम शोषित और उत्पीड़ित रहेंगे और हमारे हिस्से में झुग्गियाँ, गन्दी नालियाँ, बीमारियाँ और बेरोज़गारी जैसी समस्याएँ हमेशा मुहँ बाये खड़ी रहेंगी।

‘हरियाणा विधानसभा चुनाव – 2024’ में भाजपा की जीत के मायने और मज़दूरों-मेहनतकशों के स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष की ज़रूरत

● **भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI), हरियाणा**

हरियाणा के विधानसभा चुनाव का परिणाम आ चुका है। हरियाणा विधानसभा चुनाव नतीजों ने न केवल कांग्रेसियों बल्कि भाजपाइयों को भी चौंका दिया है। ज़मीन पर मौजूद पत्रकारों, चुनावी विश्लेषकों और ख़ुद भाजपाइयों के अनुमानों के उलट प्रदेश में कांग्रेस की बजाय भाजपा चुनाव जीत गयी है। हरियाणा प्रदेश की जनता में भाजपा के प्रति ज़बरदस्त गुस्सा था। इसको हम इस बात से भी ज़ाहिर होता हुआ देख सकते हैं कि भाजपा के 10 मन्त्रियों में से 7 को हार का मुँह देखना पड़ा और अन्य 8 भाजपा उम्मीदवारों की ज़मानत ही ज़ब्त हो गयी। इसके बावजूद हरियाणा में भाजपा का जीत जाना कई तरह के सवालों की ओर इशारा करता है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। बहरहाल 90 विधानसभा सीटों में से भाजपा को 48, कांग्रेस को 37, इनेलो-बसपा गठबन्धन को 2 तथा निर्दलीय उम्मीदवारों को 3 सीटें मिली हैं। चुनाव में जीतकर आये 90 में से 96 प्रतिशत यानी 86 विधायक करोड़पति हैं, पिछले सत्र में इनकी संख्या 84 थी। वहीं 12 विधायक आपराधिक पृष्ठभूमि के हैं। इसमें कोई शक़ नहीं है कि मौजूदा चुनाव परिणाम के बाद प्रदेश की जनता के लिए नयी-नयी आफ़तें रास्ता तलाश रही हैं। पिछले दस साल के दौरान भाजपा ने लूट, झूठ और दमन के जो कीर्तिमान स्थापित किये थे अब यह उन्हें नये चार चाँद लगायेगी। प्रदेश की जनता पर दुःख-तकलीफ़ों के पहाड़ टूटना लाज़िमी है। हरियाणा के मेहनतकशों को अपनी जुझारू-लड़ाकू एकजुट ताक़त पर ही भरोसा करना चाहिए जिसका प्रदर्शन उन्होंने पिछले कुछ समय में किया भी है।

भाजपा की “जीत” के पीछे के प्रमुख कारक

हरियाणा विधानसभा चुनावों में भाजपा की जीत के प्रमुख कारकों के रूप में इसका पन्ना प्रमुख स्तर तक का सांगठनिक ढाँचा, इसके पक्ष में खड़ी आरएसएस नामक ‘ज़हर खुरानी गिरोह’ की मशीनरी, जाति और धर्म के नाम पर बँटवारे की राजनीति के परिणामस्वरूप ग़ैर-जाट ओबीसी वोटों का अपने पक्ष में सुदृढ़ीकरण, इलेक्शन बूथों पर माइक्रो मैनेजमेण्ट, डेटा मैन्युपुलेशन और इसकी सेवा में एड़ियाँ उचकाकर खड़ा ‘केंचुआ’ यानी केन्द्रीय चुनाव आयोग को चिन्हित किया जा सकता है। चुनाव से पहले ही मुख्यमन्त्री नायाब सिंह सैनी कहते हुए पाये गये कि वे यह चुनाव जीत रहे हैं सारी “व्यवस्थाएँ” हो चुकी हैं! मोदी के सन्दर्भ के साथ छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश की तर्ज़ पर चुनाव जीतने की बात भी की गयी, हालाँकि हरियाणा के चुनाव प्रचार में नरेन्द्र मोदी की छवि का उतना इस्तेमाल भाजपा ने नहीं किया जितना पहले वह किया करती थी। भाजपा ने 90 सीटों में से 89 सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े किये थे जिनमें से 7 सीटों पर इसके निवर्तमान मन्त्री तक चुनाव हार गये। बची 80 में से 8 सीटों पर भाजपा उम्मीदवारों की ज़मानत ही ज़ब्त हो गयी, फिर भी क्या चमत्कार हो गया कि बची हुई 72 सीटों में भाजपा 48 सीटें जीत गयी। इन 48 सीटों में से भी 9 सीटें ऐसी हैं जिनपर भाजपा मात्र क़रीब 23,000 वोटों के अन्तर से जीती है। आपको ज्ञात होगा चुनाव आयोग द्वारा हरियाणा में चुनाव के दिन अपनी वेबसाइट पर प्रदर्शित किये गये मत प्रतिशत में चुनाव सम्पन्न होने के दिन 5 अक्तूबर के 2 दिन बाद तक यानी 7 अक्तूबर तक भी बढ़ोत्तरी दर्ज होती देखी गयी। कुछ विश्लेषकों के अनुसार ईवीएम सील होने के बावजूद भी वोट प्रतिशत में यह बढ़ोत्तरी एक बार नहीं बल्कि दो बार की गयी। कई सीटों पर यह बढ़ोत्तरी 2-4 फ़ीसदी नहीं बल्कि 10-11 प्रतिशत तक भी देखी गयी। चुनाव विश्लेषकों की मानें तो इस बढ़े हुए वोट प्रतिशत से सीधा फ़ायदा भाजपा को ही हुआ है। पहली बार बढ़े वोट प्रतिशत के बाद भाजपा को 17 सीटें अधिक जाती हुई दिखी तथा दूसरी बार वोट प्रतिशत बढ़ने से भाजपा को 9 और सीटों पर फ़ायदा हुआ। यानी भाजपा द्वारा जीती गयी कुल 26 सीटें ऐसी हैं जिनपर वोट प्रतिशत के बढ़ाये जाने के बाद भाजपा जीती है। ‘केंचुआ’ की मौजूदा स्थिति को देखते हुए निश्चित तौर पर यह तथ्य चौंकाने वाले नहीं हैं। मुख्य प्रतियोगी पार्टी कांग्रेस ने भी क़रीब 20 सीटों पर ईवीएम व चुनाव प्रक्रिया में धाँधली के आरोप लगाये हैं। लोकसभा चुनाव के दौरान भी अन्तिम वोट प्रतिशत में बढ़ोत्तरी होती देखी गयी थी। और चुनाव आयोग के पास इसका कोई जवाब नहीं है।

ईवीएम और चुनाव प्रक्रिया में धाँधली की किसी सम्भावना पर मात्र दो बिन्दुओं पर बात करना पर्याप्त रहेगा। पहली बात, ईवीएम में छेड़छाड़ का भाजपा द्वारा अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल के प्रति सशंकित विश्लेषकों में से ज़्यादातर का मानना है कि फ़िलहाल इसका सीमित इस्तेमाल होगा क्योंकि फ़ासीवादी अभी कारपोरेट पूँजी व दलाल मीडिया के भरोसे जीत को लेकर आश्वस्त हैं तथा खुल्लमखुल्ला ईवीएम धाँधली से व्यवस्था की विश्वसनीयता भी संकटग्रस्त हो सकती है। लेकिन सामने आये तथ्यों से इसी बात की सम्भावना अधिक लगती है लगता है कि चुनाव प्रक्रिया में छेड़छाड़ हुई है, चाहे सीमित पैमाने पर ही सही। दूसरा यदि ईवीएम में छेड़छाड़ असम्भव है तो डालने के बाद और गणना करने से पहले वोटों में अन्तर क्यों पाया जाता है? ईवीएम ‘स्ट्रॉंग रूमों’ के बाहर और अन्दर भाजपाई ही क्यों मक्खियों की तरह भिनभिनाते हुए पाये जाते हैं? ईवीएम रखरखाव में इतनी अनियमितताएँ क्यों पायी जाती हैं? पहले ख़ुद ईवीएम पर सवाल उठाने वाले भाजपाई ही अब शान्त क्यों हैं?

हरियाणा में पोस्टल बैलेट पर डाले गये वोटों की गणना में 73 सीटों पर कांग्रेस और 1 सीट पर इसके गठबन्धन में चुनाव लड़ रही सीपीएम आगे रहीं जबकि ईवीएम पर ये 37 सीटों पर ही सिमट गयीं। वहीं पोस्टल बैलेट पर मात्र 16 सीटों पर आगे रहने वाली भाजपा ईवीएम पर 48 सीटों पर जीत गयी। आख़िर केन्द्र और राज्य के सरकारी कर्मचारी और बुज़ुर्ग भी तो समाज के आम रुझान को ही अभिव्यक्त कर सकते हैं। हरियाणा विधानसभा चुनाव के आँकड़े एक दफ़ा फिर से केन्द्रीय चुनाव आयोग की निष्पक्षता के ढोल की पोल को बखूबी बयान करते हैं। चुनाव आयोग की निष्पक्षता के ढोंग को इस बात से भी देख सकते हैं कि हरियाणा में भाजपा बहुमत प्राप्त होने के 10 दिन बाद तक भी सरकार का गठन टालती रही और चुनाव आयोग के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी लेकिन वहीं दूसरी ओर महाराष्ट्र के बारे में चुनाव आयोग का कहना है कि चुनाव परिणाम के दो दिन बाद तक यदि सरकार नहीं बनायी गयी तो वहाँ राष्ट्रपति शासन लगा दिया जायेगा! क्योंकि वहाँ पर अभी फ़िलहाल सरकार बनाने को लेकर भाजपा शायद उतनी आश्वस्त नहीं है। वहीं हरियाणा में यदि किसी दूसरे दल ने बहुमत को इतनी क़रीब से प्राप्त किया होता तो भाजपा यहाँ ‘ऑपरेशन कमल’ के लिए अपने सारे घोड़े दौड़ा देती। कर्नाटक, गोवा, बिहार से लेकर महाराष्ट्र तक में यह खेल हम पहले भी देख चुके हैं।

चुनाव जीतने के बाद भी भाजपा के खेमे में कई दिन तक सन्नाटा क्यों पसरा रहा?

चुनाव के कई दिन बाद तक भी भाजपा के नेता जनता के बीच विजया जुलूस निकालते नज़र नहीं आये। हालाँकि केन्द्रीय भाजपा नेतृत्व ने इस जीत को “ऐतिहासिक” क़रार दिया था! पूँजी की अकूत और बेशुमार ताक़त, सरकारी अमला, ‘केंचुआ’, बिकाऊ गोदी मीडिया, चुनाव प्रक्रिया व ईवीएम, सीबीआई-ईडी आदि का इस्तेमाल करके और साथ ही निर्दलीय के नाम पर चुनाव लड़ने वालों की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मदद करके ताकि इनके द्वारा वोट काटने के बाद भाजपा के उम्मीदवार जीत सकें और ऐसा कई जगहों पर हुआ भी और इनेलो-जजपा का अपने पक्ष में इस्तेमाल करने के बावजूद भी भाजपा बहुमत के 46 के आँकड़े से थोड़ा ही आगे बढ़ पायी है। हरियाणा नायाब सैनी की कैबिनेट के 10 में से 7 मन्त्री चुनाव हार गये और 8 उम्मीदवार तो ज़मानत भी नहीं बचा पाये। इस दौरान धर्म के नाम पर मेवात में नफ़रत का ज़हर भी घोला गया, जाति के नाम पर 35 बनाम 1 की बँटवारे की राजनीति भी की गयी, फ़र्ज़ी राष्ट्रवाद भी अपनी बुलन्दियों को छू गया, बिना पर्ची-खर्ची के नौकरी देने के झूठ का भी खूब यशोगान हुआ, तथाकथित ईमानदार सरकार के भी खूब नगाड़े बजे और ये सभी हथकण्डे आज़माकर फ़ासीवादी भाजपा लगातार तीसरी बार हरियाणा में सरकार बनाने में क़ामयाब हो गयी। बावजूद इसके इतना तो ज़ाहिर है कि भाजपा सरकार जनता में बेहद अलोकप्रिय हो चुकी है और हाँफते-काँपते, ईवीएम धाँधली और वोटों की ख़रीद-फ़रोख़्त के बाद 48 के आँकड़े तक ही पहुँच पायी है। इसी बात को यदि निगमनात्मक ढंग से देखें तो भाजपा को कुल डाले गये मतों के 40 फ़ीसदी से भी कम प्राप्त हुए हैं यानी वोट डालने वाली 60 फ़ीसदी आबादी ने तो इसे सीधे तौर पर नकार दिया और कुल आबादी के क़रीब 30 प्रतिशत ने तो वोट न डालकर इस पूँजीवादी व्यवस्था को ही नकार दिया।

हरियाणा के मज़दूरों-मेहनतकशों को पूँजीवादी पक्ष नहीं बल्कि सशक्त क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करना होगा!

हरियाणा प्रदेश के लिबरल, “समझदार” और सामाजिक जनवादी या संशोधनवादी कम्युनिस्ट कांग्रेस के सहयोगी और सलाहकार की भूमिका में आ चुके हैं और ‘काश’ लगा-लगा कर नसीहतों की बारिश किये जा रहे हैं। जैसे काश कांग्रेसी थोड़ा और जमीन से जुड़ गये होते, काश जनता थोड़ी और समझदारी दिखाती, काश राहुल और केजरीवाल गलबहियाँ कर लेते, काश शैलजा-हुड्डा-सुरजेवाला एक हो गये होते, काश कांग्रेस अति आत्मविश्वास में नहीं आयी होती आदि-आदि। इनके सभी ‘काश’ पूरे भी हो जाते और भाजपा हरियाणा में चुनाव हार भी जाती तब भी न तो फ़ासीवाद का ख़तरा कम होना था और न ही कोई अन्य वैकल्पिक सरकार जनता के जीवन में ख़ुशहाली लाने वाली थी। कर्नाटक की कांग्रेस सरकारों और इससे पहले की भी राजस्थान की गहलोत सरकार व मध्यप्रदेश की कमलनाथ सरकार की कारगुज़ारियों के बाद किसी शक़-संशय की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। फ़ासीवाद को चुनावों से नहीं हराया जा सकता क्योंकि वह सरकार में रहे न रहे, समाज और राजसत्ता के ढाँचे में इसकी स्थायी मौजूदगी बनी रहती है और इस तौर पर फ़ासीवाद आम जनता व ख़ासकर मज़दूर वर्ग का चरम शत्रु बना रहता है। और आज के दौर में तो इसे चुनाव के मैदान में हराना भी टेढ़ी खीर है क्योंकि इसने शासन-सत्ता की पूरी मशीनरी का अन्दर से ‘टेक ओवर’ कर लिया है, अपने लोगों को बिठाकर पूँजीवादी संसदीय जनतन्त्र की संस्थाओं और प्रक्रियाओं पर अन्दर से नियन्त्रण कर लिया है। इसीलिए यह हारी हुई बाज़ी जीतने में भी सक्षम बन जाता है। यह बात सच है की फ़ासीवादी पार्टी की बजाय कोई भी दूसरी ताक़त सत्ता में आती है तो जनता के लिए स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर होती है और उसे कुछ तात्कालिक राहतें मिलने की कुछ गुंजाइश होती है। साथ ही जनता की अगुवा शक्तियाँ आगामी संघर्षों के लिए तैयारी करने के लिए भी अपेक्षाकृत रूप से बेहतर स्थिति में होती हैं, हालाँकि नवउदारवाद के दौर में कांग्रेस या किसी अन्य ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी दल के बारे में भी गुलाबी सपने बुनना जनता की क्रान्तिकारी अगुवा ताक़तों के लिए घातक होगा। लेकिन सुधारवादी और सामाजिक जनवादी सलाहकारों के ‘काश’ और आहों-कराहों में यह सोच झलकती है कि भाजपा की बजाय कोई दूसरी शक्ति के सरकार में आने से सभी बीमारियों का इलाज हो जाना था और ये सभी बुर्जुआ विभ्रमों से ग्रस्त लोग इसे ही फ़ासीवाद की मुकम्मल हार के तौर पर भी देखते हैं। पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के मौजूदा उदारीकरण के दौर में सरकार चाहे किसी की भी बने यह बात तय है कि उदारीकरण-निजीकरण की रफ़्तार में कोई गुणात्मक फ़र्क नहीं आना है।

आज जनता का सही विकल्प ऐसी ताक़त ही हो सकती है जो न केवल सड़क के संघर्षों को एक सूत्र में पिरो सके और पूँजीवादी चुनावों व संसद-विधानसभा के मंचों पर प्रभावी रणकौशलात्मक हस्तक्षेप कर पूँजीवादी व्यवस्था के सीमान्तों को उजागर कर सके बल्कि मौजूदा व्यवस्था की सीमाओं को इंगित करते हुए एक नयी व्यवस्था का मॉडल और उसे हक़ीक़त में तब्दील करने का क्रान्तिकारी रास्ता भी कमेरे वर्गों के सामने रख सके। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) इसी सोच के साथ पूँजीवादी चुनावों में मज़दूरों, मेहनतकशों व ग़रीब किसानों के स्वतन्त्र स्वर को पेश करने के प्रयास की शुरुआत कर चुकी है। हरियाणा विधानसभा चुनावों में RWPI ने उचाना कलां की सीट से अपने उम्मीदवार कॉमरेड रमेश खटकड़ को खड़ा किया था।

हरियाणा की जनता के सामने उपस्थित चुनौतियाँ

आज चुनावों में पूरी तरह से अवसरवाद-धनबल-बाहुबल का ही बोलबाला है और अब तो इसमें धाँधली

(पेज 6 पर जारी)

चुनावी समीकरणों और जोड़-घटाव के बूते फ़ासीवाद को फ़ैसलाकुन शिक़स्त नहीं दी जा सकती है!

(पेज 1 से आगे)

निकट इतिहास था जिसकी वजह से आम कश्मीरी उसे सबक़ भी सिखाना चाहते थे। यहाँ यह बात जोड़ना आवश्यक है कि आम कश्मीरियों के एक सीमित हिस्से का चुनाव की प्रक्रिया में भागीदारी का तथ्य यह दृष्टिभ्रम पैदा कर सकता है कि कश्मीरी अवाम अपने साथ हुए ऐतिहासिक विश्वासघात और मोदी सरकार की कारगुज़ारियों को भूल गयी है। लेकिन ऐसा सोचना महज़ ख़ाम-ख़याली से कम कुछ नहीं है। कश्मीर में चुनाव की प्रक्रिया कश्मीरियों के राष्ट्रीय दमन की हक़ीक़त को न तो छिपा सकती है और न ही वहाँ स्थिति के "सामान्य" हो जाने की ही कोई पुष्टि करती है।

बहरहाल, जहाँ तक इन नतीजों के बाद कुछ लोगों को धक्का लगने का सवाल है तो अब इस तरह के धक्के और झटके चुनावी नतीजे आने के बाद तमाम छद्म आशावादियों को अक्सर ही लगा करते हैं! 2014 के बाद से हुए कई चुनावों के बाद हम यह परिघटना देखते आये हैं। ऐसे सभी लोग भाजपा की चुनावी हार को ही फ़ासीवाद की फ़ैसलाकुन हार समझने की ग़लती बार-बार दुहराते हैं और जब ऐसा होता हुआ नहीं दिखता है तो यही लोग गहरी निराशा और अवसाद से घिर जाते है। इसका यह मतलब नहीं है कि भाजपा की चुनावी हार से देश की मेहनतकाश अवाम और क्रान्तिकारी शक्तियों को कुछ हासिल नहीं होगा। ज़ाहिरा तौर पर उन्हें कुछ समय के लिए थोड़ी-बहुत राहत और मोहलत मिलेगी और इससे हरेक इन्साफ़पसन्द व्यक्ति को तात्कालिक ख़ुशी भी मिलेगी। लेकिन जो लोग चुनावों में भाजपा की हार को ही फ़ासीवाद के विरुद्ध संघर्ष का क्षितिज मान लेते हैं वे दरअसल फ़ासीवादी उभार की प्रकृति व चरित्र और उसके काम करने के तौर-तरीक़ों को नहीं समझते हैं।

हर्षातिरेक-अवसाद के दुष्चक्र में फँसे ऐसे तमाम लोगों के पास वास्तव में फ़ासीवाद की, और विशेष तौर पर इक्कीसवीं सदी के फ़ासीवाद की, कोई वैज्ञानिक समझदारी नहीं है। यह इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवादी उभार की विशिष्टताओं को समझ पाने की नाकामी और किसी न किसी प्रकार के बुर्जुआ विभ्रम का शिकार होने से पैदा होने वाली निराशा ही है जो चुनावी जोड़-तोड़ और तिकड़म के बूते फ़ासीवादी भाजपा को हराने के सपने देखते हैं। बेशक़, कभी-कभी प्रतीतिगत तौर पर ये चुनावी जोड़-तोड़ काम करते हुए नज़र भी आने लगते हैं लेकिन उसके पीछे भी असल वजह जनता के अलग-अलग हिस्सों में भाजपा की नीतियों के विरुद्ध भयंकर गुस्सा होता है जो चुनावों में भाजपा की हार या ख़राब प्रदर्शन में अभिव्यक्त हो भी जाता है। लेकिन इसी को भाजपा और संघ परिवार की फ़ासीवादी राजनीति और विचारधारा की हार मानने की ग़लती पिछले लम्बे अरसे से प्रगतिशील और क्रान्तिकारी ताक़तों के लिए आत्मघाती साबित हुई है। यदि आशा किसी विज्ञान या तर्क द्वारा संचालित नहीं होती है और राजनीतिक परिघटनाओं को, विशेष तौर पर फ़ासीवाद के कार्यान्वयन को महज़ पूँजीवादी चुनावों और उसके नतीजों के कुछ समीकरणों और जोड़-घटाव से व्याख्यायित करने की कोशिश करती है, तो वैसी अतार्किक और अवैज्ञानिक आशा निराशा के दलदल में डूबने के लिए शुरू से ही अभिशप्त होती है। कुछ ऐसा ही हमारे देश के वाम और उदार-वाम दायरों में पिछले 10 सालों से हो रहा है।

हम 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर लगातार इस बात को रेखांकित करते रहे हैं कि भाजपा की चुनावी हार को फ़ासीवाद की निर्णायक हार समझने की ग़लती हमें नहीं करनी चाहिए। इक्कीसवीं सदी के फ़ासीवादी उभार की यही ख़ासियत है कि फ़ासीवादी ताक़तें सरकार में आ-जा सकती हैं। सरकार से बाहर रहने की सूरत में भी समाज व राज्यसत्ता में फ़ासीवादी ताक़तों की आन्तरिक पकड़ बनी रहती है क्योंकि एक दीर्घकालिक प्रकिया में आन्तरिक क़ब्ज़े और घुसपैठ के ज़रिये राज्यसत्ता और समाज के भीतर फ़ासीवादी शक्तियों ने अपनी अवस्थितियाँ सुदृढ़ की हैं। इसलिए चुनाव हारकर फ़ासीवादी पार्टी का सरकार से बाहर जाना फ़ासीवाद का अन्त कत्तई नहीं है। हिटलर और मुसोलिनी के दौर के जर्मनी और इटली के समान मोदी सरकार ने देश में चुनावों को, संसद विधानसभाओं को खुले तौर पर भंग नहीं किया है बल्कि अन्दर से पूँजीवादी संसदीय लोकतन्त्र की संस्थाओं, प्रक्रियाओं आदि पर कमोबेश नियन्त्रण स्थापित कर लिया है। सड़कों पर बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद, गौ रक्षक दलों के फ़ासीवादी गुण्डा-गिरोहों के आतंक के साथ ही संघ परिवार और भाजपा ने बड़ी ही कुशलता के साथ पहले से ही मौजूद पूँजीवादी संस्थाओं जैसे कि इन्फोर्समेण्ट डायरेक्टरेट (ईडी), केन्द्रीय जाँच ब्यूरो (सीबीआई) और आयकर विभाग में आन्तरिक घुसपैठ करके इन संस्थाओं का इस्तेमाल बतौर राजनीतिक पुलिस अपने राजनीतिक विरोधियों के ख़िलाफ़ किया है। न्यायपालिका, चुनाव आयोग, सेना, अर्द्धसैनिक बलों तक में संघ परिवार ने पिछले कई दशकों के दौरान एक लम्बी प्रक्रिया में घुसपैठ की है और अपने लोगों को बिठाने का काम किया है।

भारत में फ़ासीवादी उभार की समूची प्रक्रिया इस बात को ही सत्यापित करती है कि आज के दौर में, यानी साम्राज्यवाद के नवउदारवादी चरण में फ़ासीवाद बुर्जुआ संसदीय जनवाद के 'खोल' या रूप का परित्याग आम तौर पर और अपवादस्वरूप स्थितियों को छोड़कर, नहीं करेगा क्योंकि ऐसा करने की न तो उसे कोई आवश्यकता है (बुर्जुआ जनवाद की बची-खुची जनवादी सम्भावना-समपन्नता भी क्षरित होती चली गयी है और संसदीय प्रणाली फ़ासीवादियों को अपने मंसूबों को पूरा करने में कोई रुकावट भी पेश नहीं करती है) और ऐसा करते हुए वह अपने शासन को और अधिक वर्चस्वकारी और दीर्घजीवी बनाने में सफल भी हुआ है। इसलिए इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवादी उभार एक सतत् जारी रहने वाली परियोजना है। जो लोग आज के दौर के फ़ासीवाद का किसी भी प्रकार का सादृश्य-निरूपण बीसवीं सदी के फ़ासीवादी प्रयोगों से करने की कोशिश करते हैं वह दरअसल अतीत-ग्रस्तता का शिकार हैं और कठमुल्लावादी चिन्तन और लकीर की फ़क़ीरी करने पर आमादा हैं। ऐसे ही लकीर के फ़क़ीर पंजाब के 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप का नेतृत्व है जो मानसिक तौर पर बीसवीं सदी के दूसरे और तीसरे दशक में ही क़ैद हैं और अभी भी भारत में फ़ासीवाद के आने का इन्तज़ार कर रहा है! बहरहाल राजनीतिक तौर पर अपढ़ इस ग्रुप के नेतृत्व की बात जितनी कम की जाये उतना अच्छा है। राष्ट्रीय प्रश्न से लेकर भाषा के सवाल और फिर धनी किसान आन्दोलन और एमएसपी के प्रश्न पर अपनी ग़ैर-सर्वहारा समझदारी का जुलूस निकालने के बाद अब इस ग्रुप के नेतृत्व ने फ़ासीवाद के सवाल पर भी अपनी बेहद बचकानी और कठमुल्लावादी समझदारी की नुमाइश पेश की है।

इस संक्षिप्त लेकिन महत्वपूर्ण चर्चा के बाद हम हरियाणा और जम्मू-कश्मीर के चुनावी नतीजों के विश्लेषण पर लौट सकते हैं। यह चर्चा इसलिए ज़रूरी थी क्योंकि मौजूदा दौर में चुनावों के किसी भी विश्लेषण को उपरोक्त सन्दर्भ में रखकर ही बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है। बहरहाल, हर चुनाव की तरह इस चुनाव में भी भाजपा ने चुनाव प्रचार में जमकर पैसा बहाया। अभी भी पूँजीपति वर्ग की सबसे चहेती पार्टी होने का ख़िताब भाजपा को ही हासिल है और इसलिए उसके पास धनबल की कोई कमी नहीं है। इसके ज़रिये न सिर्फ़ भाजपा का प्रचार बाक़ी सभी पूँजीवादी दलों के प्रचार पर भारी पड़ता है बल्कि विपक्ष को तोड़ने में भी यह धनबल काफ़ी मददगार साबित हुआ है। यह कारक फ़िलहाल भाजपा को अन्य ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टियों के मुक़ाबले अप्रत्याशित लाभदायक स्थिति में रखता है और हम जानते हैं कि पूँजीवादी चुनावों में धनबल सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसके अलावा राज्य मशीनरी पर अपने क़ब्ज़े के चलते भाजपा विपक्षी दलों की बाँह कई अन्य तरीक़ों से भी मोड़ती ही रहती है। इसके साथ ही हरियाणा में संघ का पूरा ताना-बाना भी भाजपा के प्रचार में उतरा हुआ था। ज़ाहिरा तौर पर भाजपा के पीछे संघ के फ़ासीवादी काडर-आधारित सांगठनिक ढाँचे की उपस्थिति उसे अन्य ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टियों से अलग करती है और उसे चुनावों में अतिरक्त लाभ पहुँचाने और बढ़त देने की वस्तुगत ज़मीन मुहैया कराता है। साथ ही, हरियाणा में भाजपा अपने साम्प्रदायिक फ़ासीवादी शस्त्रागार के कई आज़मूदा हथियार इस्तेमाल करने से भी बाज़ नहीं आयी। 2023 में भाजपा और संघ परिवार द्वारा नूँह में मुसलामानों के ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक हमले और दंगे करवाने के पीछे मक़सद वोटों का ध्रुवीकरण ही था। हालाँकि हरियाणा की आम मेहनतकाश आबादी ने सूझ-बूझ का परिचय देते हुए इस भाजपाई साज़िश को क़ामयाब नहीं होने दिया था और फ़ासीवादी ताक़तों को अपनी जन-एकता को तोड़ने नहीं दिया था।

इसके अलावा भाजपा जानती थी कि पिछले 10 सालों में हरियाणा में अपनी जनविरोधी नीतियों के कारण वह लोगों के बीच में ख़ासा अलोकप्रिय हुई थी। हरियाणा में बेरोज़गारी दर पूरे देश में सबसे ज़्यादा है, जोकि 30 प्रतिशत के ऊपर है। अग्निपथ जैसी योजनाओं के कारण भी यह बात आम लोगों के बीच स्थापित हो चुकी है कि भाजपा रोज़गार-विरोधी सरकार है। साथ ही, पहलवानों के आन्दोलन ने भी भाजपा की छवि को काफ़ी क्षति पहुँचायी और स्त्री-विरोधी पार्टी के तौर पर इसकी "ख्याति" को पुष्ट करने का ही काम किया। विधान सभा चुनाव में विनेश फोगाट की जीत इस बात को ही रेखांकित करती है। लेकिन इसका पूर्वानुमान लगाते हुए संघ व भाजपा शीर्ष नेतृत्व ने विधान सभा चुनावों से ऐन 6 महीने पहले ही मनोहर लाल खट्टर को मुख्यमन्त्री पद से हटाकर नायाब सिंह सैनी को मुख्यमन्त्री बनाया। यह दरअसल एक तीर से कई शिकार करने जैसा था।

भाजपा द्वारा अपनी ही जनविरोधी नीतियों की वजह से पैदा हुई सरकार-विरोधी लहर को इस क़दम से रोकने की कोशिश तो की ही गयी, साथ ही नायाब सिंह सैनी के चेहरे को आगे करके ग़ैर-जाट ओबीसी वोटों का सुदृढ़ीकरण करने का प्रयास भी किया गया जो एक हद तक क़ामयाब भी हुआ। यह रणनीति भाजपा ने हरियाणा, उत्तर प्रदेश समेत कई राज्यों में अपनायी है जहाँ इसने प्रभुत्वशाली ओबीसी जाति (जिनका प्रतिनिधित्व पहले से ही कोई न कोई क्षेत्रीय पूँजीवादी दल कर रहा है) के बरक्स ग़ैर-प्रभुत्वशाली ओबीसी जातियों की लामबन्दी अपने पक्ष में की है। कांग्रेस की भूतपूर्व हुडा सरकार को "खर्ची-पर्ची" की सरकार के तौर पर प्रचारित किया गया और यह बात भी ग़ैर-जाट ओबीसी और दलित आबादी के बीच प्रचारित की गयी कि कांग्रेस सरकार की वापसी मतलब 'जाटशाही' की वापसी होगी।

एक और बात जो गौरतलब है वह यह कि हरियाणा में भाजपा ने मोदी के चेहरे और छवि का इस्तेमाल काफ़ी कम किया। लोकसभा चुनाव के नतीजों के बाद 400 पार के नारे की हवा निकलने की वजह से मोदी की छवि को पहुँची क्षति के बाद हरियाणा में भाजपा और नरेन्द्र मोदी कोई नया जोख़िम उठाना नहीं चाहते थे। यही वजह है कि विधान सभा चुनाव स्थानीय चेहरों को आगे करके ही लड़ा गया। यही कारण था कि नरेन्द्र मोदी ने इस बार हरियाणा में केवल चार रैलियाँ की जबकि 2014 के चुनावों में मोदी ने 10 रैलियाँ की थी और 2019 चुनावों में भी कम से कम 6 रैलियाँ की थीं। इसके अलावा भाजपा ने 90 में से 61 सीटों पर नये प्रत्याशियों को खड़ा किया ताकि सरकार-विरोधी लहर को इसके ज़रिये भी बेअसर किया जा सके जिसमें उसे काफ़ी हद तक सफलता मिली भी।

इसके अलावा दलित वोटों का एक हिस्सा भी भाजपा के पक्ष में गया है, जो हरियाणा में कुल आबादी का 21 प्रतिशत है। इसमें भी 12 प्रतिशत आबादी वाल्मीकि और धानक जैसे सबसे अरक्षित और पिछड़े हिस्सों से आता है। चुनाव से पहले भाजपा ने अनुसूचित जातियों और जनजातियों के आरक्षण में उप-वर्गीकरण पर आये उच्चतम न्यायलय के फ़ैसले पर तुरन्त अवस्थिति अपनाकर इस हिस्से को भी अपने पक्ष में जीतने का प्रयास किया। वहीं कांग्रेस इस मुद्दे पर चुप रही। इसके अलावा, बलात्कार और हत्या के मामले में सज़ा काट रहे डेरा सच्चा सौदा के गुरमीत राम रहीम को ऐन चुनाव से पहले मिली 20 दिन की पैरोल बिना किसी वजह के नहीं थी। क्या ग़ज़ब का संयोग है कि राम रहीम को ऐसी पैरोल अक्सर चुनावों के पहले ही मिली है! इससे पहले 13 अगस्त को वह 21 दिन के लिए जेल से बाहर आया था। उससे भी पहले लोक सभा

(पेज 10 पर जारी)

चुनावी समीकरणों और जोड़-घटाव के बूते फ़ासीवाद को फ़ैसलाकुन शिक़स्त नहीं दी जा सकती है!

(पेज 9 से आगे)

चुनावों से पहले वह 19 जनवरी को भी पैरोल पर बाहर आया था। ज्ञात हो कि पिछले 4 सालों में भाजपा सरकार राम रहीम पर पैरोल के मामले में 15 बार मेहरबान रही है। तो निश्चित ही इस मेहरबानी का क़र्ज़ राम रहीम ने चुनाव से पहले अदा किया ही होगा!

भाजपा हरियाणा में लगातार तीसरी बार विजयी हुई है और इस बार 48 सीटों के साथ उसने अपने पिछले सभी प्रदर्शनों को पीछे छोड़ा है। हालाँकि भाजपा की जीत कई सवाल भी खड़े करती है। मसलन, जैसा कि हमने पहले भी बताया कि भाजपा की यह कैसी "ऐतिहासिक" जीत थी जिसमें उसके 8 प्रत्याशियों की ज़मानत ही ज़ब्त हो गयी? कैसे इस "ऐतिहासिक" जीत में भाजपा के 10 में से 7 मन्त्री चुनाव हार गये? मुख्यमन्त्री नायब सिंह सैनी के अलावा केवल दो और भूतपूर्व मन्त्री अपनी जीत दर्ज कर पाये। ऐसे में ईवीएम और केन्द्रीय चुनाव आयोग की मदद ने भाजपा की जीत को "ऐतिहासिक" बनाने में सम्भवतः अच्छा-ख़ासा योगदान तो किया ही होगा, जैसा कि कांग्रेस और कई चुनावी विश्लेषक परिणाम आने के बाद लगातार कहते भी रहे और पिछले कई चुनावी नतीजों ने इस बात की पुष्टि भी की है। हालाँकि चुनाव आयोग ऐसे तमाम आरोपों पर कोई सफ़ाई देने के बजाय केवल अपनी निष्पक्षता के खोखले दावों को ही दुहरा रहा था। वहीं दूसरी तरफ़ देश के उच्चतम न्यायलय ने भी ईवीएम की विश्वसनीयता पर उठ रहे सवालों को अपने फ़ैसले के ज़रिये ठण्डे बस्ते में ही डालने का काम किया था।

बहरहाल, भाजपा द्वारा जीती गयी 48 में 9 सीटें ऐसी हैं जिन्हें भाजपा ने कभी नहीं जीता था मसलन नरवाना, गोहाना, समालखा, खरखोदा, सफ़ीदों, बरवाला, दादरी आदि। इन सीटों पर जीत का मुख्य कारण भाजपा द्वारा अन्य पार्टियों के दलबदलुओं व बाग़ियों को समायोजित करने, अपने नेताओं के निर्वाचन क्षेत्रों में फ़ेरबदल करने और स्थानीय जातिगत समीकरणों को ध्यान में रखने की रणनीति थी। परिवारवाद के विरोध का सुर अलापने वाली भाजपा ख़ुद परिवारवादी राजनीति की सबसे कुख्यात पनाहगाह है। पूर्व मुख्यमन्त्री बंसी लाल की पोती श्रुति चौधरी तोशाम विधान सभा से विजयी बनी। कुछ महीने पहले ही श्रुति चौधरी और उसकी माँ किरण चौधरी कांग्रेस छोड़कर भाजपा में शामिल हुए थे। किरण चौधरी हरियाणा से भाजपा की राज्य सभा सदस्य है।

हरियाणा में मुक़ाबला मुख्य तौर पर भाजपा और कांग्रेस के बीच द्विध्रुवी रहा। पिछले विधान सभा चुनावों में जननायक जनता पार्टी को 10 सीटें मिली थी, हालाँकि इस बार आज़ाद समाज पार्टी से गठबन्धन के बावजूद इसके खाते में एक भी सीट नहीं आयी। वहीं इनेलो और बसपा के गठबन्धन को केवल 2 सीटें हासिल हुईं।

जहाँ तक कांग्रेस के चुनावी प्रदर्शन का सवाल है तो पूँजीवादी चुनावों के मानकों से भी बात करें तो कांग्रेस का प्रदर्शन उतना ख़राब भी नहीं था जितना कि गोदी मीडिया नतीजे आने के बाद पेश करने की कोशिश कर रहा था। वास्तव में, यह भाजपा की जीत कम और कांग्रेस की हार अधिक थी। इसके लिए भी ज़िम्मेदार एक हद तक कांग्रेस के भीतर मौजूद आन्तरिक कलह था जो रह-रहकर भूपिन्दर हुडा ख़ेमे और कुमारी शैलजा ख़ेमे के आपसी अन्तरविरोधों के रूप में सामने आ रहा था। कांग्रेस की हार का एक और कारण उसकी अपनी आत्मसन्तुष्टि थी और जीत को लेकर अति आत्मविश्वास था जिसकी वजह से कई जगह कांग्रेस के बाग़ियों ने ही उसकी हार सुनिश्चित करने का काम किया। कई विश्लेषकों का कहना है कि आम आदमी पार्टी से गठबन्धन न करना कांग्रेस की सबसे बड़ी ग़लती थी। हालाँकि यह अपने आपमें कांग्रेस की हार में कारक नहीं था। लेकिन हाँ, कांग्रेस के कुछ वोट तो अपने प्रत्याशियों को खड़ा करके 'आप' ने काटे ही। क्या यह भी महज़ संयोग है कि कांग्रेस और 'आप' के बीच गठबन्धन और सीट-वितरण को लेकर बातचीत असफल होने और इस गठबन्धन के न बनने के कुछ दिनों बाद ही अरविन्द केजरीवाल, मनीष सिसोदिया और अब हाल ही में सत्येन्द्र जैन को ज़मानत मिल गयी? पूँजीवादी राजनीति में ऐसे संयोग कम ही पाये जाते हैं।

जहाँ भाजपा ने एक हद तक ग़ैर-जाट ओबीसी वोटों का सुदृढ़ीकरण अपने पक्ष में किया वहीं कांग्रेस जाट वोटों के अपने पक्ष में सुदृढ़ीकृत होने को लेकर आत्मसन्तुष्ट थी और उसने बाक़ी ओबीसी जातियों में प्रचार पर कोई विशेष ध्यान ही नहीं दिया। कांग्रेस को मुख्य तौर पर जाटों, जाटवों और मुसलामानों का वोट प्राप्त हुआ। वहीं जाट वोटों को बाँटने का काम इनेलो और जेजेपी द्वारा भी किया गया। और कई सीटों पर टिकट न मिलने पर कांग्रेस के बाग़ियों ने भी कांग्रेस के वोट काटे। उदाहरण के तौर पर नरवाना सीट पर भाजपा प्रत्याशी कृष्ण बेदी ने 11,499 वोटों से कांग्रेस के प्रत्याशी सतबीर डबलैन को हराया। इस सीट पर इनेलो की प्रत्याशी विद्या रानी दनोडा को 46,303 वोट मिले। वहीं सफीदों में भाजपा ने जेजेपी के बाग़ी राम कुमार गौतम को टिकट दिया जिसने कांग्रेस के प्रत्याशी सुभाष गंगोली को 4,037 वोटों से हराया। इस सीट पर कांग्रेस के बाग़ी नेता जसबीर देसवाल को 20,114 वोट प्राप्त हुए थे। इसके अलावा आज़ाद समाज पार्टी और बसपा के भी चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़े करने की वजह से दलित वोट भी बँटा।

कई सामाजिक-जनवादियों और छद्म वामपन्थियों से लेकर तमाम उदारवादी विश्लेषक किसान आन्दोलन की वजह से भाजपा को चुनावों में होने वाले नुक़सान के गुलाबी सपने देख रहे थे और दावे कर रहे थे कि धनी किसानों की एमएसपी की माँग को न माने जाने का खामियाज़ा भाजपा चुनावों में भुगतेगी। हालाँकि ऐसा कुछ हुआ नहीं। ऐसे तमाम "विद्वान" लोग यह नहीं समझते कि आज किसी एक विशिष्ट आर्थिक माँग पर शासक वर्गों के दो धड़ों में तात्कालिक अन्तरविरोध (एमएसपी के मसले पर औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग और खेतिहर पूँजीपति वर्ग के धड़े के बीच अधिशेष के विनियोजन को लेकर पैदा होने वाला तात्कालिक विशिष्ट अन्तरविरोध) के पैदा होने का मतलब यह नहीं है कि भाजपा धनी किसान वर्ग और कुलक वर्ग के दूरगामी हितों की नुमाइन्दगी नहीं करती है, जोकि गाँवों में शासक वर्गों की भूमिका अदा करते हैं। बल्कि मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता के विरुद्ध इन दोनों ही धड़ों समेत समूचे पूँजीपति वर्ग के दूरगामी हितों के सामूहिकीकरण का काम और उनके दूरगामी आम आर्थिक और राजनीतिक हितों की नुमाइन्दगी का काम भाजपा शासक वर्ग के राजनीतिक संकट के दौर में सबसे कुशलता के साथ कर सकती है क्योंकि मेहनतकश वर्गों को दमनात्मक राज्य मशीनरी और फ़ासीवादी विचारधारा के ज़रिये अनुशासित करने का काम एक फ़ासीवादी पार्टी ही सबसे बेहतर ढंग से कर सकती है जोकि भाजपा है। इसलिए भाजपा की ज़रूरत केवल औद्योगिक-वित्तीय पूँजी को ही नहीं बल्कि ग्रामीण पूँजीपति वर्ग को भी है। हालाँकि नारोदवादी व कुलकवादी राजनीति के अलग-अलग संस्करण पेश करने वाले तमाम "वामपन्थी" संगठन ग्रामीण इलाक़ों में फ़ासीवादी राजनीति की भूमिका को अपने लोकरंजकतावाद और वर्गसहयोगवाद के चलते जानबूझकर नज़रअन्दाज़ करते हैं।

आइए अब थोड़ी चर्चा जम्मू-कश्मीर के चुनावी नतीजों की भी कर लेते हैं। जम्मू कश्मीर में एक दशक बाद विधान सभा चुनाव सम्पन्न हुए। इन दस वर्षों के भीतर फ़ासीवादी मोदी सरकार ने भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कश्मीर के राष्ट्रीय दमन तथा कश्मीरियों के साथ की गयी भारतीय शासकों की ऐतिहासिक ग़द्दारी में तब नया कीर्तिमान स्थापित किया जब 5 अगस्त, 2019 को अनुच्छेद 370 हटा दिया गया और इसके साथ ही जम्मू-कश्मीर के राज्य का दर्जा भी ख़त्म कर दिया गया। इस बार भाजपा वैसे जम्मू-कश्मीर में सरकार बनाने के सपने देख रही थी और किसी हिन्दू मुख्यमन्त्री को शीर्ष पर बिठाने की आस लगाये बैठी थी। जम्मू-कश्मीर में 2022 में परिसीमन प्रक्रिया पूरी होने के बाद जम्मू के इलाक़े में सीटों का वितरण भाजपा ने स्पष्ट तौर पर अपने पक्ष में करवाया था। हालाँकि कश्मीर घाटी में मिली शिक़स्त के कारण भाजपा सरकार तक नहीं पहुँच पायी और वहाँ नेशनल कान्फ्रेंस की अगुवाई में उमर अब्दुल्ला की सरकार बन गयी है। लेकिन स्थानीय सरकार बनने का मतलब यह नहीं है कि मोदी सरकार का हस्तक्षेप जम्मू-कश्मीर में ख़त्म या कम हो जायेगा। जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन क़ानून, 2019 उपराज्यपाल को विधान सभा में सदस्य नामांकित करने का अधिकार देता है और यह मोदी सरकार की दखलन्दाज़ी को बरक़रार रखने में अहम भूमिका अदा करेगा।

यह भी गौरतलब है कि चुनाव प्रचार के दौरान भाजपा ने जम्मू-कश्मीर के पूर्ण राज्य की स्थिति को बहाल करने का वायदा किया था, लेकिन अब वह इस वायदे से मुकरने के पूरे संकेत दे रही है। इसमें भी ताज्जुब की कोई बात नहीं होगी। पूँजीपति वर्ग से किये गए वायदों के अलावा वैसे भी भाजपा ने कौन-सा अन्य वायदा पूरा किया है? यह वायदा भी कश्मीर घाटी में वोट पाने की मंशा से ही किया गया था। कहने की आवश्यकता नहीं है कि राज्य के दर्जे की बहाली अपने आप में कश्मीर के क़ौमी दमन को ख़त्म नहीं कर देगी। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि आज एक आम कश्मीरी अनुच्छेद 370 के हटाये जाने और कश्मीर के राज्य के दर्जे को ख़त्म किये जाने के फ़ासीवादी मोदी सरकार के क़दम को न सिर्फ़ भारतीय हुक्मरानों द्वारा राष्ट्रीय दमन की ऐतिहासिक नीति की निरन्तरता के तौर पर देखता है बल्कि इसे भारतीय राज्यसत्ता द्वारा अबतक किये गये तमाम विश्वासघातों की पराकाष्ठा के तौर पर भी देखता है।

चुनावों में जहाँ तक पीडीपी और कांग्रेस के प्रदर्शन का सवाल है तो पीडीपी को केवल 3 सीटें मिली हैं, वहीं कांग्रेस को 6 सीटें हासिल हुई हैं। 2014 के विधान सभा चुनाव में पीडीपी को कश्मीर घाटी की 47 में से 26 सीटें हासिल हुई थीं। उम्मीद की जा रही थी कि कांग्रेस का जम्मू में बेहतर प्रदर्शन हो सकता है हालाँकि ऐसा हुआ नहीं और वह 1 सीट पर सिमट कर रह गयी। इन मुख्य पार्टियों के अलावा जमात-ए-इस्लामी और इन्जिनियर राशिद की अवामी इत्तेहाद पार्टी भी चुनावी मैदान में मौजूद थीं। हालाँकि इन दोनों का ही प्रदर्शन दयनीय रहा।

ज़ाहिरा तौर पर कश्मीर घाटी में चुनाव की प्रक्रिया वहाँ मौजूद क़ौमी दमन की हक़ीक़त को दरकिनार नहीं कर देती है। इसलिए भारतीय मीडिया समेत तमाम विश्लेषकों द्वारा चुनावों में कश्मीरियों की भागीदारी के अतिउत्साहपूर्ण राष्ट्रवादी निष्कर्ष भयंकर रूप से भ्रामक हैं और कश्मीरी अवाम की आकांक्षाओं को कत्तई प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं। कश्मीर का राष्ट्रीय दमन वहाँ चुनाव सम्पन्न करवाकर ख़त्म किया ही नहीं जा सकता है। आज कश्मीरी जनता विकल्पहीनता की स्थिति में अगर नेशनल कान्फ्रेंस को वोट दे रही है तो इसका कत्तई यह मतलब नहीं है कि उसने अपने साथ हुए ऐतिहासिक अन्याय और विश्वासघात को भुला दिया है।

कुल मिलकर कहें तो हालिया चुनावी नतीजे एक बार फिर इसी बात की ताईद करते हैं कि फ़ासीवादी भाजपा और संघ परिवार की फ़ासीवादी राजनीति को महज़ चुनावों में किसी जोड़-तोड़ या किसी भी प्रकार के चुनावी समीकरण के द्वारा नहीं हराया जा सकता है। भारत के मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी लामबन्दी ही अन्तिम तौर पर फ़ासीवादी उभार को शिकस्त दे सकती है। आज यदि भाजपा कोई चुनाव हारकर सरकार से कुछ समय के लिए बाहर चली भी जाये तब भी समाज और राज्यसत्ता के ढाँचे पर अपने आन्तरिक नियन्त्रण और व्याप्ति के ज़रिये वह एक स्थायी परिघटना बनकर मौजूद रहेगी और अगली बार और अधिक आक्रामकता के साथ सत्ता में वापसी करेगी। भारत में फ़ासीवादी उभार का इतिहास इसी बात की बानगी है। इसलिए आज न केवल मज़दूर वर्ग, आम मेहनतकशों और मध्यम वर्ग के हिस्सों को यह बात समझने की ज़रूरत है बल्कि प्रगतिशील दायरे में मौजूद तमाम इन्साफ़पसन्द लोगों को भी यह समझना होगा कि फ़ासीवाद की मुकम्मल हार केवल और केवल पूँजीवाद के ख़ात्मे के साथ ही सम्भव है। किसी भी तरह का कोई भी पूँजीवादी जनवादी विभ्रम या ख़ाम-ख़याली हमारी प्रतिरोध की धार और रणनीति को ही कमज़ोर करने का काम करेंगे।

हैदराबाद में कांग्रेस सरकार द्वारा मूसी नदी और झीलों को बचाने के नाम पर ग़रीबों व मेहनतकशों के आशियानों और आजीवका पर ताबड़तोड़ हमला

● हैदराबाद संवाददाता

तेलंगाना में पिछले साल हुए विधान सभा चुनावों में लोगों ने केसीआर के नेतृत्व वाली भारत राष्ट्र समिति की सरकार को ठुकराकर रेवंत रेड्डी के नेतृत्व वाली कांग्रेस पार्टी को इस उम्मीद में चुना था कि वह सत्ता में पहुँचकर ग़रीबों और आम जनता के पक्ष में नीतियाँ बनाने का अपना वायदा पूरा करेगी। परन्तु सत्ता में पहुँचने के दस महीने के भीतर ही इस सरकार ने अपना घोर जनविरोधी चरित्र उजागर करना शुरू कर दिया है। भाजपा शासित राज्यों के बुलडोज़र राज से प्रेरणा लेते हुए प्रदेश की कांग्रेस सरकार ने हैदराबाद की मूसी नदी के सौन्दर्यीकरण के नाम पर मूसी रिवरफ़्रण्ट विकास परियोजना के तहत नदी के किनारे बसे मेहनतकश जनता के आशियानों पर बेरहमी के साथ बुलडोज़र चलाना शुरू किया है। इसके अतिरिक्त रेवंत रेड्डी सरकार ने शहर की तमाम झीलों को बचाने और बाढ़ को रोकने के लिए 'हैदराबाद आपदा प्रतिक्रिया और सम्पत्ति संरक्षण एजेंसी (हाइड्रा)' नामक एक निरंकुश प्राधिकरण बनाया है जिसने शहर की तमाम झीलों के किनारे से अतिक्रमण हटाने के नाम पर आम मेहनतकश आबादी के आशियानों को ज़मींदोज़ करना भी शुरू कर दिया है और उन्हें उनकी आजीविका के साधनों से भी बेदख़ल किया जा रहा है। इस प्रकार शहर में नदियों व झीलों के किनारे दशकों से बसे हज़ारों परिवारों के ऊपर बुलडोज़र का ख़तरा मँडरा रहा है। विडम्बना तो यह है कि इतने बड़े पैमाने पर लोगों को उजाड़ने के बावजूद शहर में बरसात में बाढ़ की समस्या से निजात पाने के कोई आसार नहीं नज़र आ रहे हैं। उल्टे इसकी प्रबल सम्भावना है कि इस प्रकार के सनक भरे फ़ैसलों से नदियों व झीलों की पारिस्थितिकी पर विपरीत असर पड़ेगा।

मूसी नदी के सौन्दर्यीकरण के नाम पर ग़रीबों-मेहनतकशों की ज़िन्दगी में भूचाल

मूसी नदी जो कभी हैदराबाद की जीवन रेखा हुआ करती थी, आज शहर के सीवर और औद्योगिक कचरा डाले जाने की वजह से एक सँकरे नाले में तब्दील हो चुकी है। इसके लिए मुख्य रूप से सरकार, बिल्डर माफ़िया और पूँजीपति ज़िम्मेदार हैं। लेकिन नदी के मौजूदा हालात के लिए अक्सर उसके किनारे रहने वाले हज़ारों ग़रीबों-मेहनतकशों को दोषी ठहराया जाता है।

वैसे मूसी नदी को पुनर्जीवित करने की बात दशकों से चलती आयी है। इस दौरान आयी हर नयी सरकार नदी के सौन्दर्यीकरण की योजना लाती है और लोगों के प्रतिरोध के बाद उसे टाल देती है। 1997 में अविभाजित आन्ध्र प्रदेश की चन्द्रबाबू नायडू की सरकार ने 'नन्दनवनम' नामक एक परियोजना शुरू की थी, लेकिन इसे वापस ले लिया गया क्योंकि मूसी नदी के किनारे रहने वाले लोगों ने इसका विरोध करना शुरू कर दिया था। इसी तरह 2005 में भी ऐसी ही एक योजना तत्कालीन वाई.एस. राजशेखर रेड्डी की सरकार ने तैयार की थी। लेकिन वह योजना भी क्रियान्वित नहीं हो सकी। केसीआर की सरकार ने भी मूसी नदी के सौन्दर्यीकरण की बात कही, लेकिन वह भी कोई कारगर योजना नहीं बना सकी।

अब रेवंत रेड्डी की सरकार न सिर्फ़ मूसी नदी के सौन्दर्यीकरण के बारे में बात कर रही है, बल्कि उसने नदी के किनारे बसी बस्तियों को उजाड़ना भी शुरू कर दिया है। यही नहीं, रेवंत रेड्डी सरकार ने मूसी रिवरफ़्रण्ट परियोजना के लिए 4000 करोड़ रुपये के क़र्ज़ के लिए विश्व बैंक से भी सम्पर्क किया है। यह योजना बिना स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखे लन्दन की थेम्स नदी विकास और अहमदाबाद के साबरमती रिवरफ़्रण्ट विकास से प्रेरणा लेकर क्रियान्वित की जा रही है। ग़ौरतलब है कि हैदराबाद में मूसी नदी क़रीब 56 किमी लम्बे हिस्से से होकर गुज़रती है जिसमें से लगभग 20 किमी के क्षेत्र में हज़ारों ग़रीब और मेहनतकश परिवार दशकों से नदी के किनारे कमल नगर, मूसा नगर, शंकर नगर, तिलक नगर आदि जैसी बस्तियों में रहते हैं।

इन ग़रीबों-मेहनतकशों के परिवारों की आजीविका इस क्षेत्र में मिलने वाले कामों पर निभर करती है। उनमें से अधिकांश इन इलाक़ों में राजमिस्त्री, दर्ज़ी, ऑटो चालक, रेहड़ी-पटरी वाले, घरेलू नौकर आदि के रूप में आसपास के क्षेत्रों में काम करते हैं। बिना किसी उचित पुनर्वास योजना के इतनी बड़ी संख्या में ग़रीबों के घरों को ध्वस्त करना रेवंत रेड्डी सरकार द्वारा उठाया गया एक संवेदनहीन और निर्मम क़दम है। इस प्रक्रिया में, रेवंत रेड्डी सरकार इन परिवारों की आजीविका को भी ध्वस्त कर रही है। बहुत ही कम समय के नोटिस पर उनके घरों को ध्वस्त करने के बाद, उनमें से कुछ को बेहद कम सुविधाओं वाले बहुमंज़िला अपार्टमेण्ट में एक छोटा 2-बीएचके फ्लैट आवण्टित किया गया है, लेकिन उनकी शिक़ायत है कि यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि कई विवाहित लोगों वाले संयुक्त परिवार के लिए, सिर्फ़ एक फ़्लैट दिया गया है। जिन परिवारों के घर अभी टूटे नहीं हैं वे लगातार भय और अनिश्चितता में जी रहे हैं क्योंकि उनके घर किसी भी समय ध्वस्त किये जा सकते हैं। उन्हें डर है कि उन्हें शहर के बाहरी इलाक़े में दूर-दराज़ के स्थानों पर भेज दिया जायेगा जहाँ आजीविका का कोई अवसर नहीं होगा। उनमें से कई के पास यह साबित करने के लिए आवश्यक दस्तावेज़ नहीं हैं कि वे घर के मालिक हैं। इसके अलावा, मूसी नदी के किनारे की बस्तियों में रहने वाले बड़ी संख्या में निवासी दशकों से किराये के मकानों में रहते आये हैं। इन परिवारों के पुनर्वास की कोई बात नहीं हो रही है और जो लोग किराये पर दूसरे इलाक़ों में जा रहे हैं उन्हें दोगुना या तिगुना किराया देना पड़ता है जिससे उनका घरेलू बजट डाँवाडोल हो गया है।

मूसी नदी के सौन्दर्यीकरण का यह बेरहम अभियान रेवंत रेड्डी सरकार और कांग्रेस पार्टी के जनविरोधी चरित्र की एक बानगी है। यह देश में विकास के नवउदारवादी मॉडल की निरन्तरता में है जिसे पूरे देश के स्तर पर कांग्रेस पार्टी ने ही शुरू किया था। अगर हम संजीदगी से मूसी जैसी नदियों की दयनीय स्थिति के पीछे का मूल कारण जानने की कोशिश करेंगे तो पायेंगे कि इसके लिए मुख्य रूप से अनियोजित शहरीकरण ज़िम्मेदार है। आज़ादी के बाद देश में हुए पूँजीवादी विकास की वजह से हुआ यह है कि हैदराबाद जैसे महानगर देश के विभिन्न हिस्सों से बड़ी संख्या में लोगों को आकर्षित करते हैं क्योंकि रोज़गार के अवसर केवल ऐसे महानगरों में ही मौजूद हैं। इससे शहरीकरण और निर्माण गतिविधियों में तेज़ी आयी है जो ज़्यादातर अनियोजित होती हैं और ऐसी गतिविधियों पर सरकार की बजाय निजी रियल इस्टेट माफ़िया का नियन्त्रण रहता है। सीवर ट्रीटमेण्ट, ठोस-कचरा प्रबन्धन और औद्योगिक कचरों के प्रबन्धन की कोई उचित योजना नहीं बनायी जाती है। इसलिए बिना ट्रीट किये गये सीवर और औद्योगिक कचरे को नदियों और जलाशयों में डाल दिया जाता है, जिससे वे प्रदूषित हो जाते हैं और बरसात के मौसम में उनमें बाढ़ आ जाती है। इसी प्रकार, इस तरह का अनियोजित शहरीकरण आपस में जुड़ी झीलों और जलाशयों की प्राकृतिक जल निकासी प्रणाली को भी नष्ट कर देता है और सुनियोजित जल निकासी चैनलों के अभाव की वजह से विशेष रूप से बरसात के मौसम में बाढ़ की समस्या पैदा होती है। इसके अलावा, पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े की प्रेरणा की वजह से लोगों को आवास प्रदान करने की कोई योजना नहीं बनायी जाती है और आवास के क्षेत्र में बिल्डर माफ़िया का वर्चस्व बना रहता है। यह एक ऐसी स्थिति पैदा करता है जिसमें ग़रीब और मेहनतकश लोग, जो शहरों में अपार्टमेण्ट और बहुमंज़िला इमारतों के निर्माण के लिए मुख्य तौर से ज़िम्मेदार होते हैं, वे उन अपार्टमेण्टों में रहने के बारे में सोच भी नहीं सकते हैं और वे अक्सर नदी या रेलवे पटरी के किनारे झुग्गी बस्तियों में रहने के लिए मजबूर होते हैं।

समस्या को जड़ से हल करने में असमर्थ रेवंत रेड्डी सरकार समस्या को दिखावटी तरीक़े से हल करने की कोशिश कर रही है। लेकिन पर्यावरण के दृष्टिकोण से भी, रिवरफ़्रण्ट के निर्माण जैसे दिखावटी समाधान नदी प्रदूषण और बाढ़ की समस्या का समाधान करने में सक्षम नहीं हैं। रिवरफ़्रण्ट के हिस्से के रूप में बनाये जाने वाले तटबन्ध और कंक्रीट संरचनाएँ नदी के प्राकृतिक प्रवाह को बाधित करती हैं और नदी को एक नहर में तब्दील कर देती हैं। इससे नदी की अखण्डता नष्ट हो जाती है जो समय-समय पर बाढ़ और सूखे के चक्रों के माध्यम से प्राकृतिक रूप से बनी रहती है। रिवरफ़्रण्ट के कारण नदी के प्राकृतिक प्रवाह में जो बाधा पैदा होती उससे नदी में मौजूद विभिन्न प्रजातियों के विलुप्त होने का ख़तरा पैदा हो जाता है। इससे गाद की समस्या भी उत्पन्न होती है जिससे भविष्य में बाढ़ की सम्भावना बढ़ जाती है। इसके अलावा, यह नदी तट पर जैव विविधता के नुक़सान का भी कारण बनता है जो नदी पारिस्थितिकी के लिए नुक़सानदेह है। इसलिए रेवंत रेड्डी सरकार जिस नवउदारवादी पूँजीवादी उपाय को अपनाने पर आमादा है, वह न तो मानवीय है और न ही पर्यावरणीय रूप से टिकाऊ है और वास्तव में इससे हालात और ख़राब होने की सम्भावना है।

हाइड्रा की अन्धाधुन्ध कार्रवाईयों से शहर में बाढ़ की समस्या का समाधान नहीं होने वाला है

तेलंगाना और आन्ध्र प्रदेश के कुछ हिस्सों में भारी बाढ़ की हालिया घटनाओं के बाद, तेलंगाना में रेवंत रेड्डी सरकार ने हैदराबाद आपदा प्रतिक्रिया और सम्पत्ति संरक्षण एजेंसी (HYDRAA) नामक एक नवगठित प्राधिकरण को अधिक से अधिक कठोर शक्तियाँ प्रदान करना शुरू कर दिया है, जिसे शहर की तमाम झीलों के फुल टैंक स्तर (FTL) के आसपास अतिक्रमण हटाने का अधिकार है। शुरुआत में, हाइड्रा ने कुछ मशहूर हस्तियों और शक्तिशाली लोगों के रिसॉर्ट्स और कन्वेंशन सेण्टरों को ध्वस्त किया। लेकिन जैसे ही बुलडोज़र को खुली छूट दी गयी, उसका आबादी के ग़रीब तबक़े की ओर बढ़ना तय था। रेवंत रेड्डी सरकार अब हैदराबाद में ग़रीब मेहनतकश लोगों के सपनों, आकांक्षाओं और आजीविका को मिट्टी में कुचलने का काम कर रही है। लोगों के घरों पर बुलडोज़र चलाने और उनकी आजीविका को नष्ट करने का भयावह दृश्य हैदराबाद में रोज़मर्रे की बात हो चुकी है। कई सामाजिक कार्यकर्ता और पर्यावरणवादी रेवंत रेड्डी सरकार की इस कार्रवाई का यह कह कर समर्थन कर रहे हैं कि वह झीलों को बचाने और बाढ़ रोकने का प्रयास ईमानदारी से कर रही है। हालाँकि, मुख्यमन्त्री की पर्यावरण हितैषी छवि के इस दावे पर एक बड़ा सवालिया निशान तब खड़ा हो जाता है जब हम देखते हैं कि यह वही सरकार है जो प्रदेश के विकाराबाद ज़िले के दामागुंडम जंगलों में नौसेना का रडार स्टेशन बनाने के लिए लगभग 12 लाख पेड़ों की योजनाबद्ध कटाई की योजना पर एक शातिराना चुप्पी बनाये रखती है। इस रडार स्टेशन को बनाने के लिए लगभग 3000 एकड़ वन भूमि नौसेना को सौंपने की योजना है। इसी तरह, यह साबित करने के भी पर्याप्त उदाहरण हैं कि जब बात कांग्रेस पार्टी के सदस्यों के स्वामित्व वाली संरचनाओं को ध्वस्त करने की आती है तो हाइड्रा के कर्मचारी उतना उत्साह नहीं दिखा रहे हैं।

जब पूँजीपति, बिल्डर माफ़िया और नेता-मन्त्री मुनाफ़े के उद्देश्य से झीलों के किनारे अतिक्रमण कर रहे थे तब उसे रोकना चाहिए था। ग़रीब-मेहनतकश लोगों के लिए योजना के तहत रिहायशी क्षेत्रों का विकास करना चाहिए था। लेकिन इस मुनाफ़ा केन्द्रित

(पेज 12 पर जारी)

रतन टाटा : अच्छे पूँजीवाद का 'पोस्टर बॉय'

(पेज 16 से आगे)

बाहर नहीं निकल सकता था। संसदीय प्रणाली हमारी आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त नहीं है।" यहाँ टाटा का तात्पर्य यह है कि वह, जी.डी. बिड़ला और उनकी चौकड़ी बॉम्बे योजना के तहत जो नीतियाँ लिख रहे थे, उसमें कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। इसके परिणामस्वरूप देश के लोगों के लिए महँगाई-बेरोज़गारी बढ़ी और भोजन की कमी हुई। उनके अनुसार ये मामूली मुद्दे होने चाहिए थे और जनता को विरोध करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए था।

भोपाल गैस त्रासदी में 25,000 लोग मारे गये थे। इसमें अमेरिका के पूर्व आन्तरिक सचिव हेनरी किसिंजर ने भारत सरकार पर अमेरिकी रासायनिक कम्पनी यूनियन कार्बाइड के साथ क़ानूनी समझौता करने और उसे मुक्त करने के लिए दबाव डाला। सूचना की स्वतन्त्रता अधिनियम (भारत के सूचना के अधिकार अधिनियम के समान एक अमेरिकी क़ानून) के तहत प्राप्त एक पत्र से पता चला कि भारत के स्टील टाइकून जे. तृतीय टाटा ने मई 1988 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी को एक पत्र लिखा था, जिसमें पीड़ितों व कम्पनी में समझौता कराने में हो रही देरी पर चिन्ता व्यक्त की थी। भोपाल में कार्यकर्ताओं द्वारा प्राप्त यह पत्र महत्वपूर्ण है क्योंकि यह पुष्टि करता है कि दुनिया की सबसे भीषण औद्योगिक दुर्घटना के लिए यूनियन कार्बाइड कम्पनी को ज़िम्मेदारी से मुक्त करने में अमेरिकी सरकार और टाटा की मिलीभगत थी। भोपाल त्रासदी के पीड़ितों ने टाटा समूह पर यूनियन कार्बाइड संयन्त्र में अमेरिकी कम्पनी के निवेश के लिए "रास्ता प्रशस्त करने" का आरोप लगाते हुए इस क़दम का कड़ा विरोध किया। ये थी संक्षिप्त में जे.आर.डी. टाटा की कहानी। अब बात करते हैं उनके बेटे रतन टाटा के बारे में।

आइए रतन टाटा के योगदान पर नज़र डालें

सूचना के अधिकार में प्राप्त दस्तावेज़ों के अनुसार, 2007 में रतन टाटा ने डॉव केमिकल्स (जो अब यूनियन कार्बाइड का मालिक है) से एक अनुबन्ध के लिए आवेदन वापस लेने की माँग की और भारत सरकार ने पर्यावरण सुधार लागत के रूप में यूनियन कार्बाइड से 22 मिलियन डॉलर की जमा राशि माँगी थी। अब उस बिन्दु पर आते हैं जहाँ टाटा सबसे अधिक "सफ़ल" रहे हैं, यानी खनन और अन्य "विकास" कार्यों के लिए सस्ती दरों पर भूमि अधिग्रहण करके लोगों को विस्थापित करना। झारखण्ड में पीढ़ियाँ इस विस्थापन की गवाह बनी हैं। टिस्को यानी टाटा स्टील से विस्थापित लोगों की तीसरी या चौथी पीढ़ी समुदाय नोआमुण्डी ब्लॉक में रहती हैं। जब अंग्रेज़ों ने टाटा को ज़मीन सौंपी तो वे अपने गाँवों से विस्थापित हो गये थे। पर्याप्त मुआवज़े के बिना विस्थापन का विरोध कर रहे लोगों पर पुलिस द्वारा गोलीबारी करने और डराने-धमकाने के कई मामले हैं। उदाहरण के लिए, 2000 में उड़ीसा के रायगढ़ जिले में लोग टाटा स्टील की बॉक्साइट खदान के खिलाफ़ शान्तिपूर्वक विरोध प्रदर्शन कर रहे थे, पुलिस ने फायरिंग कर दी, इसमें 3 आदिवासी युवा मारे गये। इनमें से सबसे वीभत्स घटना 2 जनवरी 2006 को कलिंगनगर में हुई, जब पुलिस ने ज़मीन के अनसुलझे मुआवज़े के विवादों को लेकर टाटा स्टील परियोजना के निर्माण का विरोध कर रहे ग्रामीणों पर गोलियाँ चला दीं। इसमें 13 आदिवासी मारे गये। इसके एक साल बाद, कम्पनी ने बिना किसी हिचकिचाहट के जमशेदपुर में 100 साल के इतिहास का "जश्न" मेला आयोजित करके इस्पात उद्योग में अपनी अग्रणी भूमिका का जश्न मनाया। इस क्रूर घटना की यादें आज भी लोगों के मन में ताज़ा हैं और हर साल लोग राज्य सरकार के करतूतों के खिलाफ़ विरोध प्रदर्शन करते हैं और लोगों को यातना की याद दिलाते हैं। इसके बावजूद, इस क्रूर हमले के लिए कलेक्टर, पुलिस महानिरीक्षक और टाटा अधिकारियों को कभी दण्डित नहीं किया गया या जाँच नहीं की गयी। टाटा समूह द्वारा अत्यधिक खनन या पर्यावरण संरक्षण नियमों के उल्लंघन के बारे में समय-समय पर रिपोर्ट सामने आती रही हैं। उड़ीसा की सुकिंदा घाटी में देश का 95 प्रतिशत क्रोमाइट अयस्क भण्डार है, जिसे पिघलाकर फ़ेरोक्रोमियम बनाया जाता है, जो स्टेनलेस स्टील के उत्पादन में एक महत्वपूर्ण घटक है। 2007 में, एक आरटीआई याचिका से पता चला कि सुकिंडा में टाटा स्टील की खदानों में मानक सीमा से 20 गुना अधिक कैंसरकारी हेक्सावलेण्ट क्रोमियम था। पर्यावरणीय क्षति, हत्या और तमाम तरीक़ों से जबरन भूमि वसूली यही देश की "सबसे प्रतिष्ठित नैतिक कम्पनी" की सच्चाई है।

अडानी-अम्बानी ही नहीं, टाटा ने भी फ़ासिस्टों को पूरा समर्थन दिया है!

मोदी ने 2008 में टाटा के प्रति अपनी वफ़ादारी साबित की, जब उन्होंने पश्चिम बंगाल के सिंगूर में भूमि अधिग्रहण के मुद्दे पर अटके टाटा को अहमदाबाद के साणंद में नैनो की परियोजना स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया। इसके बाद गुजरात सरकार ने तेज़ी से क़दम उठाते हुए टाटा मोटर्स को कई रियायतें दीं। कम्पनी को 350 एकड़ ज़मीन चाहिए थी, उसकी जगह 1,100 एकड़ ज़मीन दे दी और महज़ 0.1 फ़ीसदी ब्याज पर 584.82 करोड़ रुपये का लोन दे दिया। इन पर्याप्त रियायतों के परिणामस्वरूप, रतन टाटा ने मोदी की तुलना एक गतिशील नेता से की, जो "राष्ट्र" की ज़रूरतों को पूरा कर सकता है। वही गतिशील नेता जिसने 2002 में स्वतन्त्र भारत के इतिहास में सबसे बर्बर राज्य-प्रायोजित नरसंहार को अंजाम दिया था। जब 2010-11 में वैश्विक मन्दी के झटकों ने भारत को प्रभावित किया, तो टाटा सहित सभी बड़े समूह, जो उस समय मुनाफ़े की गिरती दर के संकट का सामना कर रहे थे, ने पुरानी वफ़ादार कांग्रेस पार्टी के बजाय कैडर-आधारित फ़ासीवादी भाजपा को अपना समर्थन दिया। यही वह पार्टी थी जो मनमोहन सिंह सरकार की औपचारिक कल्याणकारी नीतियों को दरकिनार कर सकती थी और देश की सम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों को तेज़ी से बेच सकती थी। मीडिया द्वारा बनायी गयी गुजरात मॉडल की भ्रामक स्वप्न छवि ने भी मोदी को जिताने में काफ़ी मदद पहुँचायी। जिन पूँजीपतियों की सहायता से मोदी 2014 में जीता, उसमें टाटा का भी नाम शामिल था। रतन टाटा ने 2014 में मोदी की जीत के बाद कहा था कि "मोदी को मज़बूत नेतृत्व और विकास और समृद्धि की स्पष्ट नीतियों के लिए देश के लोगों ने वोट दिया है।"

रतन टाटा ने इस दौरान लगातार नरेन्द्र मोदी की प्रशंसा की, और उस "नये भारत" की प्रशंसा की, जिसे मोदी लोगों तक पहुँचाने की कोशिश कर रहे हैं। बताते चलें कि टाटा समूह द्वारा नियन्त्रित यह प्रोग्रेसिव इलेक्टोरल ट्रस्ट ही था, जिसमें अकेले टाटा ने 2018-19 में भाजपा को 356 करोड़ रुपये का चन्दा दिया। यह इस दौरान किसी भी कॉर्पोरेट समूह द्वारा किसी भी पार्टी को दिया गया सबसे बड़ा सार्वजनिक चन्दा था। रतन टाटा ने नागपुर स्थित आरएसएस मुख्यालय का भी दौरा किया था। उन्होंने संघ जैसे संगठन को जीवन भर समर्थन दिया। एक कम्पनी जो "इस्पात से भी अधिक मज़बूत मूल्यों" का समर्थन करती है, उसका बढ़ते साम्प्रदायिक तनाव, नागरिक और जनवादी अधिकारों पर क्रूर हमले और देश भर में बढ़ती साम्प्रदायिक नफ़रत की तरफ़ कभी ध्यान ही नहीं गया। यह स्पष्ट है कि किसी भी अन्य पूँजीपति की तरह, टाटा को भी सबसे अधिक मुनाफ़ा ही पसन्द था। इस संक्षिप्त लेख में हमने जो कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे टाटा समूह के कामकाज में तथाकथित नैतिकता, मूल्यों, निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता की असलियत को दर्शाते हैं।

"जो लोग पूँजीवाद का विरोध किये बिना फ़ासीवाद का विरोध करते हैं, जो महज़ उस बर्बरता पर दुखी होते हैं जो बर्बरता के कारण पैदा होती है, वे ऐसे लोगों के समान हैं जो बकरे को जिबह किये बिना ही मांस खाना चाहते हैं। वे बकरे को खाने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें ख़ून देखना नापसन्द है। वे आसानी से सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है। वे उन सम्पत्ति सम्बन्धों के ख़िलाफ़ नहीं हैं जो बर्बरता को जन्म देते हैं, वे केवल अपने आप में बर्बरता के ख़िलाफ़ हैं।"

– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

"अच्छा पूँजीपति": एक हास्यास्पद विचार

हमें बताया जाता है कि यदि आप पर्याप्त प्रयास और मेहनत करते हैं, तो आप सफ़ल हो सकते हैं। यह झूठा प्रचार लगातार हमारे बीच में किया जाता है कि पूँजीपति वर्ग ख़ुद "धन-दौलत का निर्माता" (वास्तव मेहनत और कुदरत के लुटेरे), है, "राष्ट्र-निर्माता" है आदि। पूँजीवादी व्यवस्था में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए मेहनतकश जनता के बीच टाटा जैसे समूहों का उदाहरण पेश किया जाता है। लेकिन जब इस पर्दे को थोड़ा ही हटाओ तो पता चलता है कि सभी पूँजीपतियों के हाथ मेहनतकशों के ख़ून से ही रंगे होते हैं। "अच्छा पूँजीपति" एक हास्यास्पद धारणा है और पूँजीपतियों का दान केवल एक पर्दा है। हम मज़दूरों को यह समझ लेना चाहिए कि एक अच्छे पूँजीपति, बुरे पूँजीपति, साठगाँठ वाले पूँजीपति, ये सभी निरर्थक शब्द हैं। यह व्यवस्था मज़दूरों के शोषण से ही चल रही है और सभी पूँजीपति मज़दूरों-मेहनतकशों का शोषण कर और उनकी श्रम शक्ति को लूट कर ही मुनाफ़ा पैदा करते हैं। आज जिस व्यवस्था में बहुसंख्यकों को जीवित रहने के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचने और प्रतिदिन 12-15 घण्टे काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता है, उस व्यवस्था में नैतिकता, मूल्य, ईमानदारी आदि सब अर्थहीन हैं। ऐसी व्यवस्था को अपने समर्थन के लिए लगातार वैचारिक भ्रम, आभासी सच्चाइयों का निर्माण करना पड़ता है ताकि जनता विद्रोह न कर सके। टाटा ऐसी व्यवस्था के सबसे चालाक मास्टरमाइण्डों में से एक था।

मराठी से हिन्दी में अनुवाद : भारत

हैदराबाद में कांग्रेस सरकार द्वारा ग़रीबों व मेहनतकशों के आशियानों और आजीवका पर हमला

(पेज 11 से आगे)

व्यवस्था से यह उम्मीद करना दिन में सपना देखने के समान है।

इस समस्या के समाधान की बात करें तो यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ है कि यह सनक भरा अभियान हैदराबाद जैसे महानगरों में बाढ़ की समस्या का कोई रामबाण नुस्ख़ा नहीं है। जैसा कि पहले ही चर्चा की जा चुकी है, अधिकतम लाभ कमाने की चाहत में अनियोजित और बेतरतीब शहरी विकास ही समस्या की जड़ है। नियोजित शहरीकरण, जल निकासी और आवास विकास के बिना झीलों को बचाने के प्रयास कारगर नहीं होंगे। जब तक जल निकासी प्रणाली विकसित नहीं की जाती है और जब तक सीवरेज और औद्योगिक कचरों को झीलों में डालने से पहले ट्रीट नहीं किया जाता है और ठोस-अपशिष्ट प्रबन्धन की योजना नहीं बनायी जाती है, जब तक वर्षा जल संचयन की उचित व्यवस्था नहीं की जाती है, जब तक झीलों से गाद नहीं निकाली जाती है, तब तक झीलें सुरक्षित रखने का लक्ष्य और शहरी बाढ़ को रोकना, एक सपना बना रहेगा।

उपरोक्त तथ्यों और विश्लेषण से यह बात साफ़ है कि इस मुनाफ़ा केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था में व्यापक जन पक्षधर नियोजित शहरीकरण कभी नहीं हो सकता है। यह सिर्फ़ एक समाजवादी समाज में ही मुमकिन हो सकता है जो मुनाफ़ा केन्द्रित नहीं बल्कि मनुष्यकेन्द्रित और पर्यावरण को बचाने के लिए प्रतिबद्ध होगी। हालाँकि इस पूँजीवादी ढाँचे के भीतर भी हमें जनान्दोलन खड़ा करके आवास के बुनियादी अधिकार, रोज़गार की गारण्टी के अधिकार, स्वास्थ्य व सुरक्षित पर्यावरण के अधिकार आदि के लिए लड़ना होगा।

काम के अत्यधिक दबाव और वर्कलोड से हो रही मौतें : ये निजी मुनाफ़े की हवस की पूर्ति के लिए व्यवस्थाजनित हत्याएँ हैं!

● आशीष

मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था प्रति क्षण पहले से और अधिक विनाशकारी स्वरूप धारण करती जा रही है। वर्तमान मानवद्रोही पूँजीवाद मनुष्यता को कुछ भी नया नहीं दे सकता। यह प्रकृति और मनुष्यता को नयी-नयी विपत्तियाँ ही दे सकता है। आज के समय में काम के अत्यधिक दवाब और बढ़ते वर्कलोड से अकाल मृत्यु की शिकार होती ज़िन्दगियाँ असल में इसी मुनाफ़ाखोर व्यवस्था के हाथों की जाने वाली निर्मम हत्या के अलावा और कुछ भी नहीं है। हालिया दिनों में देश के अलग-अलग हिस्सों से अधिक वर्कलोड के कारण होने वाली मौतों की कई ऐसी ख़बरें सामने आयी हैं।

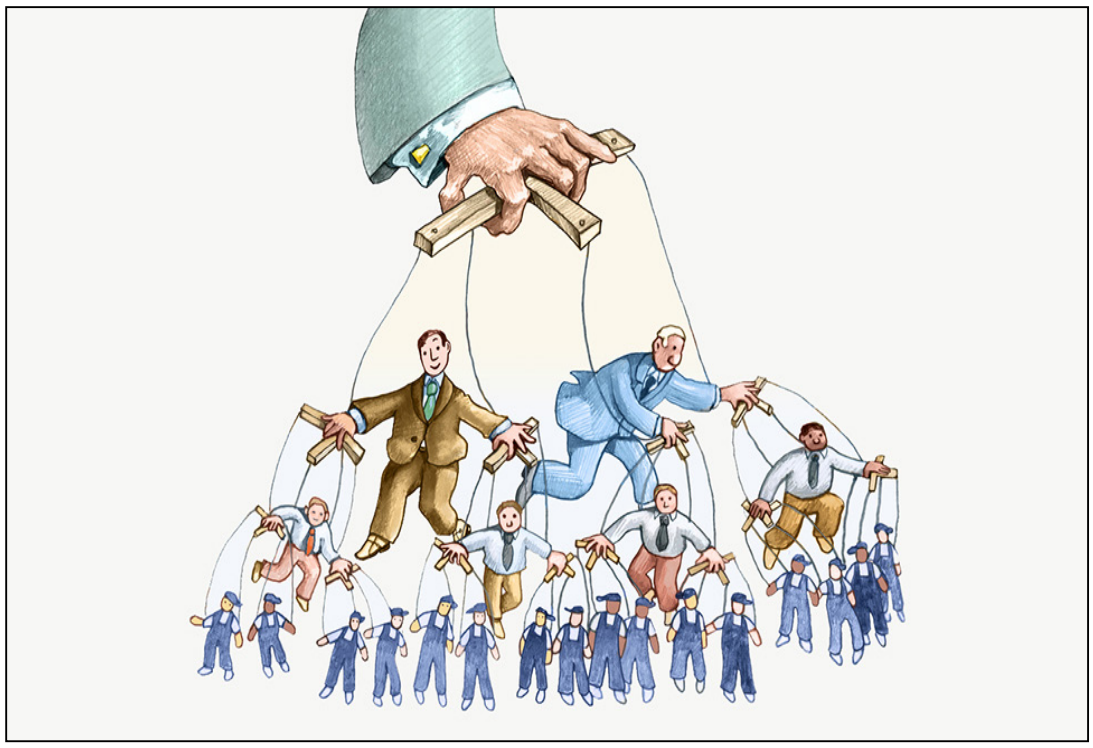

कुछ दिनों पहले ही पुणे की अर्न्स्ट एण्ड यंग कम्पनी में काम करने वाली 26 वर्षीय अन्ना सेबेस्टियन की मौत हो गयी। उसकी मौत के कारणों के बारे उसकी माँ ने बताया कि कम्पनी की ओर से उनकी बेटी के ऊपर अधिक कामों का दवाब डाला जा रहा था। उसकी माँ अनिता ने कम्पनी प्रबन्धन को पत्र लिखकर इस मौत की ज़िम्मेदारी लेने की अपील की। एक पूर्व कर्मचारी ने भी फ़र्म के 'वर्क कल्चर' की आलोचना की और आरोप लगाया कि समय से घर जाने के लिए कर्मचारियों का अक्सर 'मज़ाक' उड़ाया जाता है और साप्ताहिक छुट्टी मनाने के लिए 'शर्मिंदा' किया जाता है।

चेन्नई में अधिक काम के दबाव में एक 38 वर्षीय सॉफ्टवेयर इंजीनियर कार्तिकेयन ने करंट लगाकर आत्महत्या कर ली। घटना के वक्त उसकी पत्नी मन्दिर गयी थी। उसके घर लौटने पर मामले का खुलासा हुआ। पुलिस के मुताबिक तमिलनाडु के थेनी ज़िले का मूल निवासी कार्तिकेयन पत्नी और दो बच्चों के साथ चेन्नई में रहता था। वह 15 साल से एक सॉफ्टवेयर फर्म में बतौर तकनीशियन काम कर रहा था।

उत्तर प्रदेश के झांसी में बजाज फाइनेंस में एरिया मैनेजर के पद पर कार्यरत 42 वर्षीय तरुण सक्सेना काम के अधिक दवाब के कारण आत्महत्या का रास्ता चुनने के लिए मजबूर हुआ। उसने सुसाइड नोट में कहा कि पिछले दो महीनों से उसके वरिष्ठ अधिकारी उसपर टारगेट पूरा करने का दबाव बना रहे थे और वेतन कटौती की धमकी दे रहे थे। बजाज फाइनेंस ने अभी तक आरोपों का जवाब नहीं दिया है। उसने अपनी पत्नी और दो बच्चों को दूसरे कमरे में बन्द कर दिया था, जिसके बाद वह मृत पाया गया। अपनी पत्नी को सम्बोधित पाँच पन्नों के पत्र में तरुण ने लिखा है कि वह बहुत तनाव में था क्योंकि वह अपनी पूरी कोशिश करने के बावजूद लक्ष्य पूरा नहीं कर पा रहा था। तरुण को अपने क्षेत्र से बजाज फाइनेंस के ऋणों की ईएमआई वसूलने का काम सौंपा गया था, लेकिन कई मुद्दों के कारण वह लक्ष्य पूरा नहीं कर पा रहा था। तरुण ने अपने पत्र में लिखा कि उसे और उसके सहकर्मियों को उन ईएमआई का भुगतान करना पड़ा जो वे अपने क्षेत्र से वसूल नहीं कर पाये थे। उसने लिखा कि उन्होंने अपने वरिष्ठों के समक्ष वसूली में आने वाली समस्याओं को बार-बार उठाया, लेकिन वे उनकी बात सुनने को तैयार नहीं थे। "मैं 45 दिनों से सोया नहीं हूँ। मैंने मुश्किल से कुछ खाया है। मैं बहुत तनाव में हूँ। वरिष्ठ प्रबन्धक मुझ पर किसी भी क़ीमत पर लक्ष्य पूरा करने या नौकरी छोड़ने का दबाव बना रहे हैं।" यह उन्होंने अपने सुसाइड नोट में लिखा था।

मुम्बई में पब्लिक सेक्टर के बैंक में मैनेजर के पद पर कार्यरत सुशांत चक्रवर्ती ने अपनी कार पुल के एक हिस्से पर खड़ी करके अटल सेतु से कूदकर जान दे दी। चक्रवर्ती की कार की तलाशी लेने पर पुलिस को उनकी पहचान का पता चला और यह भी पता चला कि वह अपनी पत्नी और बेटी के साथ परेल में रहते थे। पुलिस ने उनकी पत्नी को पुलिस स्टेशन बुलाया। पूछताछ के दौरान चक्रवर्ती की पत्नी ने उन्हें बताया कि वह काम के काफ़ी दबाव में थे।

तथाकथित 'वेल-पेइंग' जॉब करने वालों की दशा ऐसी है तो देश की लगभग 84 करोड़ सर्वहारा एवं अर्द्धसर्वहारा आबादी किन अमानवीय कार्य दबाव वाली परिस्थितियों में काम करने को बाध्य है इसका अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। और बात केवल इन घटनाओं की नहीं है। 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया' की एक रिपोर्ट के अनुसार साल 2023 में मैककिंसे ने 30 देशों का एक सर्वेक्षण किया था जिसके अनुसार भारत में अधिक कार्य दवाब के चलते 60 प्रतिशत लोग अत्यधिक थका हुआ और चिंतित महसूस करते हैं। इंटरनेशनल लेबर ऑर्गेनाइजेशन (आईएलओ) के अनुसार भारत में एक साल में 2 लाख से अधिक लोगों ने कार्य दवाब के चलते अपनी जान गंवायी है। हालाँकि आईएलओ के इस आँकड़ें से इतर सच्चाई तो और भी भयावह है। कार्य दवाब के चलते लोग अधिक तनाव में रहते हैं। तनाव में रहने वाले लोगों को कई सारी गम्भीर बीमारियों का ख़तरा अधिक रहता है। हालाँकि इस प्रकार की घटनाएँ अनायास नहीं है।

नवउदारवाद की नीतियों के लागू होने के बाद से ही उजरती श्रम के दोहन की प्रक्रिया में और अधिक तेज़ी आयी है। वर्तमान फ़ासीवादी मोदी सरकार के सत्तासीन होने के बाद मेहनत की लूट नये शिखर पर पहुँच गयी है। मोदी सरकार ने श्रम की लूट और पूँजी की बेशर्मी तथा नंगई से सेवा करने में पुराने सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये हैं। मोदी सरकार द्वारा पूँजीपतियों को रहे-सहे श्रम क़ानूनों की अड़चन से मुक्त कर मज़दूरों के बेहिसाब और बेरोकटोक शोषण करने की आज़ादी देने के लिए 44 केन्द्रीय श्रम क़ानूनों की जगह चार कोड या संहिताएँ बनायी गयी हैं: मज़दूरी पर श्रम संहिता, औद्योगिक सम्बन्धों पर श्रम संहिता, सामाजिक सुरक्षा पर श्रम संहिता और औद्योगिक सुरक्षा एवं कल्याण पर श्रम संहिता। कोड में मज़दूरों से बेतहाशा काम करवाने का भी क़ानूनी इन्तज़ाम कर दिया गया है। मौजूदा क़ानूनी व्यवस्था में दिन में 9 घण्टे से ज़्यादा काम और सप्ताह में 48 घण्टे से ज़्यादा काम ओवरटाइम कहलाता है। लेकिन नयी श्रम संहिताओं में ओवरटाइम की इस परिभाषा को ख़त्म करके "पूरक कार्य" और "अनिरन्तर काम" की लच्छेदार भाषा के बहाने ओवरटाइम के लिए मिलने वाली अतिरिक्त मज़दूरी को ख़त्म करने की पूँजी परस्त और मज़दूर-विरोधी चाल चली गयी है।

कोरोना महामारी के बाद से स्थिति और अधिक भयावह हुई है। एक अनुमान के मुताबिक जहाँ एक ओर देश में 32 करोड़ लोग बेरोज़गारी की मार झेल रहे हैं, वहीं दूसरी और नौकरी या किसी पेशे में लगे लगभग 60 फ़ीसदी लोग अत्यधिक कार्य दवाब से परेशान हैं। श्रम शक्ति की क़ीमत को यानी कि मज़दूरी को कम करने के लिए बेरोज़गारी और बेरोजगारों की रिज़र्व फ़ौज का भी पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग इस्तेमाल करते हैं क्योंकि इससे काम लगी मज़दूर आबादी की मोलभाव करने की ताक़त भी कम हो जाती है।

अत्यधिक कार्य दवाब से लोगों की मौत या और साफ़ शब्दों में कहे तो व्यवस्थाजनित हत्याओं पर सिर्फ़ अफ़सोस जताने से कुछ हासिल नहीं होगा। एक तरफ़ इस व्यवस्था में मुनाफ़े की हवास का शिकार होकर मरते लोग हैं और दूसरी ओर अत्यधिक कार्य दिवस की वकालत करने वाले धनपशुओं के "उपदेश" हैं। पिछले साल अक्टूबर में, इन्फ़ोसिस के सह संस्थापक नारायण मूर्ति ने कहा कि देश की आर्थिक तरक्की के लिए भारतीय युवाओं को सप्ताह में 70 घण्टे काम करना चाहिए! भारत में ओला के प्रमुख भावेश अग्रवाल ने उनके विचार से सहमति जतायी थी और कहा था कि काम और ज़िन्दगी के बीच संतुलन जैसे विचार में वह भरोसा नहीं करते और हिदायत दी कि "अगर आपको अपने काम में मज़ा आ रहा है, तो आपको अपनी ज़िन्दगी और काम दोनों में ख़ुशी मिलेगी, दोनों संतुलित रहेंगे।" साल 2022 में बॉम्बे शेविंग कम्पनी के संस्थापक शांतनु देशपांडे ने नौजवानों से काम के घण्टे को लेकर शिकायत नहीं करने को कहा था और सुझाव दिया था कि किसी भी नौकरी में रंगरूटों को अपने करियर के पहले चार या पाँच सालों में दिन के 18 घण्टे काम करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मतलब यह कि चाहे बीमार पड़ जाओ या मर जाओ मगर इन धनपशुओं के मुनाफ़े में कोई कमी नहीं आनी चाहिए! अब आप ख़ुद सोचिए क्या इस मुनाफ़ाखोर हत्यारी पूँजीवादी व्यवस्था को एक और पल भी टिके रहने का कोई भी अधिकार है?

> "जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को शारीरिक चोट पहुँचाता है, ऐसी शारीरिक चोट जिसके कारण उसकी मौत हो जाती है, तो इस हरकत को हम मानवहत्या (ग़ैरइरादतन हत्या) कहते हैं; जब हमलावर को पहले से पता हो कि वह चोट जानलेवा होगी, तो हम उसकी हरकत को हत्या कहते हैं। लेकिन समाज सैकड़ों मज़दूरों को ऐसी स्थिति में डाल देता है कि वे अनिवार्य रूप से अकाल मृत्यु और अस्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसी मृत्यु जो उतनी ही हिंसक होती है जितनी तलवार या गोली से होती है; क्योंकि समाज हज़ारों लोगों को जीवन की ज़रूरतों से वंचित करके, ऐसी स्थितियों में डाल देता है जिसमें वे ज़िन्दा रह ही नहीं सकते – यह क़ानून के सख़्त हाथ के ज़रिए उन्हें ऐसी स्थितियों में तब तक बने रहने को मजबूर करता है जब तक कि इसके अनिवार्य नतीजे के रूप में उनकी मौत नहीं हो जाती – और समाज ऐसा यह जानते-बूझते हुए करता है कि ये हज़ारों लोग निश्चित ही मौत का शिकार हो जायेंगे, लेकिन इसके बावजूद वह इन स्थितियों को बने रहने देने की इजाज़त देता है, तब किसी एक व्यक्ति द्वारा जानबूझकर किए जाने वाले कत्ल की तरह इसका यह कार्य भी निश्चित ही एक हत्या है; धोखे से, विद्वेषपूर्ण ढंग से किया जाने वाला क़त्ल है; एक ऐसा क़त्ल जिससे कोई ख़ुद को बरी नहीं कर सकता, एक ऐसा क़त्ल जो क़त्ल जैसा दिखता नहीं क्योंकि क़ातिल किसी को नहीं दिखायी नहीं देता, क्योंकि मरने वालों की मौत स्वाभाविक जान पड़ती है, क्योंकि यह अपराध नियोजित ढंग से किया गया नहीं बल्कि गलती या लापरवाही जैसा लगता है। लेकिन फिर भी यह क़त्ल ही है।"
>
> **– फ्रेडरिक एंगेल्स, 'इंग्लैण्ड में मज़दूर वर्ग की दशा'**

शाखा में साख

● अन्वेषक

बहुत दिन हुए, मोहल्ले में विधर्मियों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं हुई। गहन मुद्रा में बैठे पाण्डेय जी सोच रहे थे। अन्य शाखा प्रान्त के लोग उनका कभी-कभी मज़ाक भी उड़ाने लगे थे। वे कहते "पाण्डेय जी आपके इलाक़े में तो इन मुल्लों की संख्या बढ़ती जा रही है। लगता है आपको पण्डिताईनी से फ़ुरसत नहीं मिल रही।" यही ख़्याल उन्हें बार-बार कुरेद रहा था। रविवार के दिन काम-धन्धें से फ़ारिग़ होकर कुर्सी पर बैठे वह इसी चिन्तन में मगन थे। पाण्डेय जी अब 50 के होने को आये हैं, बड़े से अपार्टमेण्ट में रह रहे हैं। बैंक में मैनेजर की पोस्ट पर कार्यरत हैं। इनका एक बच्चा अभी विदेश में सेटल हो चुका है, दूसरा बैंगलोर की एक बड़ी यूनिवर्सिटी में पढ़ रहा है। बचपन में ही पाण्डेय जी शाखा से जुड़ गये थे। आज वह शाखा के उत्तर-पश्चिमी ज़िला के संघचालक हैं। जवानी में उन्होंने बाबरी मस्ज़िद के आन्दोलन में भी भाग लिया था। जब भी कहीं उन्हें वक्ता के तौर पर बुलाया (ऐसे मौक़े कम ही आते हैं) जाता है तो बाबरी मस्ज़िद ध्वंस को वह अपनी ज़िन्दगी का सबसे सुन्दर अनुभव बताते हैं। कई सालों से वह अपने ज़िले के संघचालक हैं। संघचालक बनने के बाद इलाक़े में शाखा के काम को काफ़ी बढ़ाया था। आज भी रोज़ सुबह वह चार बजे उठकर शाखा में जाते हैं। पूरे देश में उनके बन्धुओं द्वारा किये जा रहे कार्य को लेकर वह काफ़ी उद्वेलित रहते हैं और अपने इलाक़े में भी वह इसी तरह का कुछ काम करना चाहते हैं, पर उनकी योजनाएँ कई बार विफल हो चुकी हैं। इससे शाखा में उनकी साख पर बट्टा लग चुका है। इसलिए वह चिन्ता में थे। इतना सोचने पर भी उनके दिमाग़ में कोई योजना नहीं आ रही थी कि कैसे अपने इलाक़े से विधर्मियों को भगाया जाये। वह इन्हें विधर्मी ही बोलते थे, उनका कहना था कि मुल्ला या मुसलमान बोलकर अपनी ज़ुबान ख़राब करना नहीं चाहते।

ख़ैर तो इसी तरह बीत रहा था पाण्डेय जी का रविवार। चिन्तन करते-करते अब उन्हें नींद आने लगी थी। इसलिए वह अब बिस्तर पर जाकर चिन्तन करने लगे और चिन्तन करते-करते सो गये। तभी अचानक उनका फ़ोन बजा और उन्होंने फ़ोन उठाया। कुछ सेकेण्ड बाद उनके चेहरे पर मुस्कुराहट आ गयी। अपनी आँखों को मीचते हुए वह फ़ोन पर बतिया रहे थे। उन्हें लग रहा था कि कहीं ये सपना तो नहीं! "ठीक है मैं अभी आता हूँ।" बोलकर उन्होंने फ़ोन रख दिया।

उनके चेहरे की हल्की मुस्कान और फैल गयी। वह बिस्तर से उठे और अपना पाजामा उतारकर आलमारी से खाकी निक्कर निकाली। वह अब भी खाकी निक्कर पहनते थे, जबकि शाखा में अन्य लोग खाकी फ़ुल पैण्ट पहनकर आने लगे थे। उनका मानना था कि पुरानी चीज़ों में बदलाव नहीं लाना चाहिए। मुंजेजी ने कुछ सोच-समझ कर ही हॉफ़ निक्कर को चुना होगा, इसे फ़ुल करने का क्या फ़ायदा! बाक़ी एक बात और थी, जो वह किसी को बताते नहीं थे या बताने से डरते थे, उन्हें बवासीर था इसलिए भी वह निक्कर पहन कर जाते थे, जिससे उन्हें तकलीफ़ न हो। तो जल्दी-जल्दी पाण्डेय जी तैयार होकर निकले और अपने घर के नज़दीक पार्क में पहुँचे जहाँ रोज़ शाखा लगती थी।

वहाँ पहले से ही वर्मा जी, त्रिपाठी जी, बंसल जी पहुँचे हुए थे। तीनों खाकी फुल पैण्ट और सफ़ेद शर्ट पहने हुए थे। वर्मा जी स्कूल अध्यापक हैं। त्रिपाठी जी की अपनी मिठाई की बड़ी दुकान है और बंसल जी की अपनी फैक्ट्री है। तीनों आपस में कुछ बातचीत कर रहे थे और पाण्डेय जी को आते देख अचानक से सावधान मुद्रा में खड़े हो गये।

"क्या हुआ! अचानक आपने इतनी हड़बड़ी में क्यों बुलाया? क्या मुद्दा हाथ लग गया है आपके बंसल जी!" थोड़ा ठहर कर साँस लेते हुए पाण्डेय जी बोले।

"पाण्डेय जी! देश भर में तो इन विधर्मियों ने उत्पात मचा ही रखा है और अब इन्होंने हमारे मोहल्ले में भी हाहाकार मचा दिया है। इन्होंने आज हमारे दस स्वयंसेवकों को चाकू से गोद कर घायल कर दिया।" बंसल जी ने सब एक साँस के कह दिया।

अचानक पाण्डेय जी की आँखों में चमक आ गयी। हल्की-हल्की चल रही हवाओं को वह अपने चेहरे पर महसूस कर रहे थे। वह समझ गये कि उन्हें शाखा में अपनी साख स्थापित का मौक़ा मिल गया। अब वह भी अपने मोहल्ले से विधर्मियों को भागकर एक मिसाल पेश करेंगे। कई विचार एक साथ उनके दिमाग़ में चल रहे थे और उन्हें खुशी का अनुभव हो रहा था। अपने पर संयम रखते हुए अपनी खुशी को अपने अन्दर ही रखा और तीनों के सामने अपने चेहरे को सख़्त बनाते हुए वह बोले: "बन्धुओं! अब वक़्त आ गया है इन विधर्मियों को सबक़ सिखाने का। ये साले हमारे देश में रह कर हर जगह हमारे बन्धुओं को मार ही रहे हैं और अब ये हमारे मोहल्ले तक में घुस गये। अब इनका सफ़ाया करना ही होगा।"

तीनों ने एक साथ सहमति में सर हिलाया। फिर से पाण्डेय जी ने बोलना शुरू किया। "बंसल जी ज़िले के सभी स्वयंसेवकों को इकठ्ठा करके तुरन्त बैठक कीजिए, सबको बता दीजिए कि कल से ही हम लोग इन विधर्मियों को भगाने की शुरुआत कर देंगे। उन्हें यह भी बताएँ कि धर्म की रक्षा के लिए तलवार उठाने का वक़्त आ गया है। कल हम पूरे मोहल्ले में रैली निकालेंगे और विधर्मियों को चेतावनी देंगे। नाला पार के मोहल्ले के लड़कों को भी रैली के लिए बोल देना, ज़रूरत पड़ी तो उन्हें कुछ पैसे भी दे देना। ये काम आपको करना है वर्मा जी। त्रिपाठी जी आपको तलवारों का इन्तज़ाम करना है, ताकि इनमें भय पैदा किया जा सके।" दुबारा तीनों ने सहमति में सर हिलाया। "चलिये अब जल्दी-जल्दी चलते हैं। काफ़ी काम करना है।" "जय श्री राम!" पाण्डेय जी ने तीनों को बोला और वहाँ से निकल गये।

पार्क से निकलते ही पाण्डेय जी की खुशी उनके चेहरे पर भी आ गयी। अब वह खुलकर खुश हो सकते थे। अब शाखा में उनकी साख बढ़ जायेगी । उन दस स्वयंसेवकों ने चाकू से घायल होकर पाण्डेय जी की चिन्ता ही दूर कर दी और उन्हें मुद्दा मिल गया। पर इसके लिए उन्हें धन्यवाद देने का समय पाण्डेय जी के पास नहीं था, उन्होंने सोचा विधर्मियों को मोहल्ले से भगाकर ही उन्हें मिला जायेगा। तेज़ क़दम बढ़ाते हुए पाण्डेय जी घर को लौट गये।

रात हो गयी। बिस्तर पर लेटे-लेटे पाण्डेय जी करवट बदल रहे थे। उन्हें नींद नहीं आ रही थी। कल की कल्पना करके वह बेहद खुश हो रहे थे। सोचते-सोचते उन्होंने यहाँ तक सोच लिया कि क्या पता इसके लिए भागवत जी उन्हें नागपुर बुलायें व उन्हें सम्मानित भी करें। अचानक उनके इस सपने में खलल पड़ी। उनका फ़ोन बज उठा। उन्होंने फ़ोन उठाया और उसके कुछ पल बाद ही उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ गयी। होंठ सिकुड़ कर छोटे हो गये और हिलने लगे। फ़ोन बंसल जी का था। बंसल जी ने बताया कि चाकू मारने वाले विधर्मी नहीं बल्कि अपने ही धर्म के लोग थे। इस ख़बर पर पाण्डेय जी को विश्वास नहीं हो रहा था। अपनी सारी योजनाओं को इस तरह बर्बाद होने नहीं दे सकते थे। वह यक़ीन ही नहीं कर पा रहे थे कि स्वयंसेवकों को अपने ही धर्म वालों ने चाकू मार दिया। वह तुरन्त उठे और कार निकाली और अस्पताल की ओर चल दिये।

अस्पताल पहुँच कर वह उन घायल दस स्वयंसेवकों के बेड के पास पहुँचे। किसी के सर पर, किसी के हाथ या पैर पर पट्टियाँ बँधी हुई थी। सबके घाव गहरे और ताज़ा लग रहे थे। पाण्डेय जी ने सब पर नज़र डाली, सबके सब कद-काठी में हट्टे-तगड़े लग रहे थे। पाण्डेय जी ने सोचा कि क्या पता बहुत लोगो ने इनपर हमला किया हो, उनमें से एक न एक तो विधर्मी मिल ही जायेगा। उन स्वयंसेवकों में से एक की नींद खुली। वह पाण्डेय जी को इतनी रात में देखकर चौंक गया। उसने पाण्डेय जी का नाम पहले सुना हुआ था, और आज वह उससे मिलने के लिए उसके सामने खड़े थे। सुबह से कई शाखाओं के कई नेता उनसे आकर मिल चुके थे, पर पाण्डेय जी को देखकर उसे विशेष खुशी महसूस हुई। पाण्डेय जी ने उसके बगल में बैठते हुए उसका नाम पूछा। उसने अपना नाम अभिषेक बताया। उसके सर पर पट्टी बँधी हुई थी जो आँख के थोड़ा ऊपर तक जाती थी।

"कैसे हुआ ये सब, क्या मुल्लों ने तुम लोगो की ये हालत की?"

पाण्डेय जी ने औपचारिकताओं को ख़त्म करते हुए पूछा।

"क्या बताऊँ पाण्डेय जी! पहले हमें भी यही लगा कि मुल्लों ने अटैक किया है, पर जैसे ही हम सँभले तो हमारे सामने चौधरी साहब और उनके बेटे थे। वह लगातार हमपर अन्धाधुन्ध चाकू घुमा रहे थे। हम इधर-उधर भागकर छिपने की कोशिश कर रहे थे पर दोनों लोग हाथ धोकर हमारे पीछे ही पड़ गये।"

"चौधरी साहब कौन! वहीं जिन्होंने चुनाव में पार्टी को चन्दा दिया था?" पाण्डेय जी ने उत्सुकता से पूछा।

"हाँ! वही थे।"

बीच में ही रोकते हुए पाण्डेय जी ने पूछा "ऐसा क्या कर दिया था तुम लोगो ने कि वह तुम्हारे पीछे पड़ गये?"

"पाण्डेय जी! असल में बात यह है कि उस मन्दिर में जहाँ घटना हुई, उसे चौधरी साहब ने बनवाया है ताकि ज़मीन पर क़ब्ज़ा करके रखा जा सके। हम लोगों ने भी मन्दिर बनवाने में उनकी की मदद की थी। फिर हम लोगों ने यहाँ हर मंगलवार को कीर्तन करना शुरू कर दिया, उसमें एक समय बाद काफ़ी लोग आने लगे। लोगों के आने से चौधरी साहब को लगा कि इससे उनकी ज़मीन ख़तरे में पड़ जायेगी, तो उन्होंने हमें यहाँ कीर्तन करने से मना कर दिया। उन्होंने कई बार मना किया पर हम नहीं माने और फिर आज उन्होंने सीधा हमपर जानलेवा हमला कर दिया।"

ये सब सुनकर पाण्डेय जी बिल्कुल निराश हो चुके थे। उनकी बची-खुची सम्भावनाएँ मिट्टी में मिल गयीं। पाण्डेय जी बिना कुछ बोले उठकर जाने लगे। कुछ क़दम चलने के बाद रुके और पीछे मुड़कर बोले: "वो दो लोग थे और तुम दस, तब भी उन्होंने तुम्हारा ये हाल कर दिया?"

"पाण्डेय जी! भारत माता की क़सम खाकर कहता हूँ कि हमारी वीरता में कोई कमी नहीं है। वो तो चौधरी साहब अपने धर्म के है इसलिए हमने कुछ नहीं कहा, अगर मुल्ले होते है, उनकी तो हम ऐसी-तैसी कर देते।" दर्द से कहराते हुए स्वयंसेवक बोला।

पाण्डेय जी बिना कुछ बोले मुँह लटकाये वहाँ से चले गये। उन्हें कुछ समझ नहीं आ रहा था। उनके दिमाग़ में बस यही चल रहा था कि अब शाखा में साख कैसे बचेगी! क्या शाखा में उनके वह सुनहरे दिन वापस आयेंगे! अगले दिन वह शाखा में क्या मुँह दिखायेंगे! यही सोचते-सोचते वो घर पहुँच कर सो गये। अगले दिन सुबह शाखा में नहीं गये और 8 बजे उठकर सीधा दफ़्तर चले गये।

भक्त महिमा

देशभक्त, देशभक्त
टनटनाटन देशभक्त
दनदनादन देशभक्त
बम का गोला देशभक्त
आग लगाए देशभक्त
दिये जलाए देशभक्त
मोदीभक्त, देशभक्त
टिटरी-टिटरी, टा टा टा टा
देशभक्त
मोदीभक्त-देशभक्त
ताजा-टटका देशभक्त
कुरकुरा देशभक्त
मुरमुरा देशभक्त
लैंडक्रूज़र देशभक्त
ट्रंप टाइप देशभक्त
मोदीभक्त, देशभक्त
भगतो गाओ देशभक्त
मोदी मेरा देशभक्त
दिवाली मनाओ देशभक्त।

– विष्णु नागर

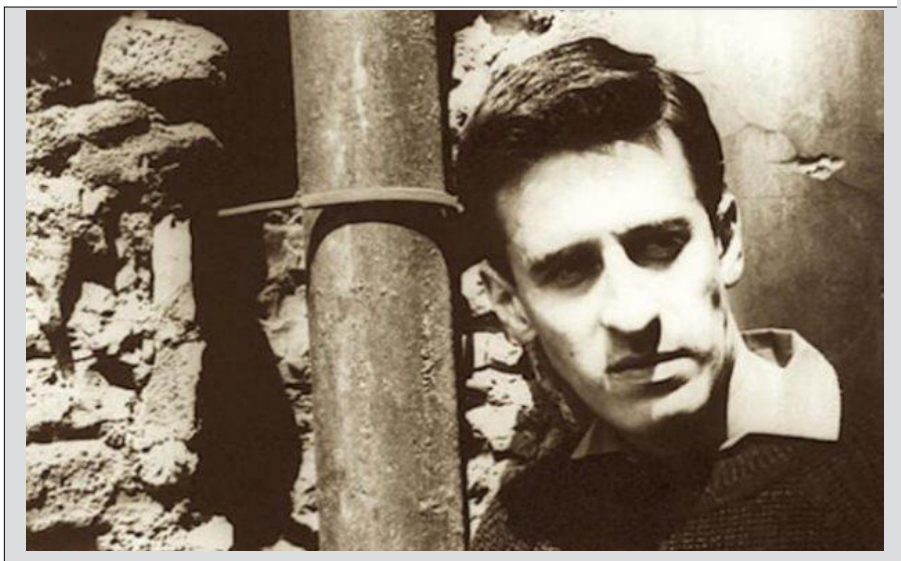

अल सल्वाडोर के क्रान्तिकारी कवि रोखे दाल्तोन (1935 – 1975) की कुछ कविताएँ

स्वतन्त्रता के आँकड़े

सल्वाडोर के लोगों के लिए
प्रेस की स्वतन्त्रता
20 सेंटावो[1] प्रतिदिन क़ीमत रखती है,
केवल उन लोगों की गिनती करते हुए
जो पढ़ सकते हैं
और जिनके पास 20 सेंटावो बचते हैं
बमुश्किल जीवित रहने हेतु ख़र्च के बाद

प्रेस की स्वतन्त्रता बड़े औद्योगिक व्यापारियों और प्रकाशकों
के लिए बिकती है हज़ारों में
और बदलती है काले और सफ़ेद पन्ने के लिए
मुझे नहीं पता कितने प्रति-स्क्वायर इंच शब्द और
रेखाचित्रों के लिए।

प्रेस की स्वतन्त्रता
डॉन नेपोलियन वियरा अल्तामिरानो[2]
और ड्यूट्रिज़[3] और पिंटो[4]
और अल मुण्डो[5] के मालिकों के लिए
करोड़ों का मोल रखती है:

शामिल है जिसमें इमारतें
सैन्य सिद्धान्तों पर निर्मित
शामिल है जिसमें मशीनें, काग़ज़ और स्याही
वित्तीय निवेश उनके उद्यमों के
जो दिन-ब-दिन मिलता है उन्हें
बड़े औद्योगिक व्यापारियों और प्रकाशकों
और सरकार तथा उत्तरी अमरीकी तथा
अन्य दूतावासों से

जिसे मज़दूरों के शोषण से निचोड़ा जाता है,
जिसे वसूलते हैं ब्लैकमेल से
("न छापकर उस बेहद महत्वपूर्ण सज्जन की सच्चाई
या मौक़ापरस्ती में छापकर ऐसा राज़
जो समन्दर की सबसे छोटी मछली को डुबा दे")
जिसे कमाते हैं वे
"विशेष अधिकारों" की अवधारणाओं से, मसलन
"प्यार है" के तौलियों... "प्यार है" के गुड्डे-गुड़ियों से…
जो वे इकट्ठा करते हैं रोज़
सभी सल्वाडोर वासियों से (और ग्वाटेमाला वासियों से)
जिनके पास 20 सेंटावो उपलब्ध हैं।

पूँजीवादी तर्क में
प्रेस की स्वतन्त्रता बस एक और धन्धा है
और हर किसी का मूल्य
उस अनुपात में मिलता है जो जितनी क़ीमत अदा करता है
जनता के लिए 20 सेंटावो प्रति व्यक्ति प्रति दिन
प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए,

वियरा अल्तामिरानो ड्यूट्रिज़ पिण्टो आदि के लिए
करोड़ों डॉलर प्रति व्यक्ति प्रति दिन
प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए।

1 - अल सल्वाडोर की मुद्रा
2, 3, 4 - सल्वाडोर के बड़े पूँजीवादी अख़बारों के मालिकों के नाम
4 - सल्वाडोर का बड़ा अख़बार

काव्यात्मक दक्षता

तुम तय कर सकते हो
नैतिक चरित्र एक राजनीतिक सत्ता,
एक राजनीतिक संस्थान
या एक राजनीतिक व्यक्ति का,
इस बात से कि ख़तरे की किस हद के लिए
रज़ामन्द होते हैं
वे प्रेक्षण पर,
नज़रों में
एक व्यंग्य कवि की।

अनुवाद : सनी

कविता की ज़रूरत

"कविता, रोटी की तरह, हर व्यक्ति के लिए होती है"
– रोख़े दाल्तोन, अल सल्वाडोर के क्रान्तिकारी कवि

रोटी पेट की भूख मिटाती है, कविता हमारी सांस्कृतिक-आत्मिक भूख मिटाती है। इनमें से पहली भूख तो जैविक है, आदिम है। दूसरी भूख सच्चे अर्थों में 'मानवीय' है, मनुष्य के सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास की देन है। समस्या यह है कि वर्ग विभाजित समाज के श्रम विभाजन जनित अलगाव, विसांस्कृतीकरण और विमानवीकरण की सार्विक परिघटना ने बहुसंख्यक आबादी से उसकी सांस्कृतिक-आत्मिक भूख का अहसास ही छीन लिया है। दूसरे, जब पेट की भूख और बुनियादी ज़रूरतों के लिए ही हड्डियाँ गलानी पड़ती हों तो सांस्कृतिक भूख या तो मर जाती है या विकृत हो जाती है। भूखे लोग रोटी के लिए आसानी से, स्वत: लड़ने को तैयार हो जायेंगे, पर वास्तविक अर्थों में सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्वों से युक्त मानव समाज के निर्माण की लम्बी लड़ाई के लिए, मानवता के 'आवश्यकता के राज्य' से 'स्वतंत्रता के राज्य' में संक्रमण की लम्बी लड़ाई के लिए, व्यक्ति की सम्पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मौलिक वैयक्तिकता के लिए ज़रूरी शोषणमुक्त सामाजिक संरचना और सामूहिकता के सुदूर भविष्य तक की यात्रा के सतत् दीर्घकालिक संघर्ष के लिए, लोग तभी तैयार हो सकते हैं, जब उन्हें विस्मृति से मुक्त किया जायेगा, उन्हें स्वप्न और कल्पनाएँ दी जायेंगी, उनमें कविता की भी भूख पैदा की जायेगी और फिर उस भूख को मिटाने के ज़रूरी इन्तज़ाम किये जायेंगे।

सभी कविता का आस्वाद ले सकें, वह दुनिया अभी दूर है। लेकिन वैसी दुनिया को क़रीब लाने के काव्यात्मक संघर्ष में अगाथ काव्यात्मक हृदय ही अनथक लगे रह सकते हैं। इसलिए इस काव्यात्मक लड़ाई के भागीदारों के लिए कविता एक बुनियादी ज़रूरत है। यह उनकी भी ज़रूरत है जो इस लड़ाई में आंशिक भागीदारी करते हैं या इसे ज़रूरी मानकर इसे समर्थन देते हैं, या कम से कम इसके प्रति हमदर्दी रखते हैं।

कविता उस लड़ाई में सतत् सार्थक भागीदारी की ज़रूरत है, जो लड़ाई जीवन में कविता की बहाली के लिए है। हम सचेतन प्रयासों से लोगों में जिस हद तक कविता की ज़रूरत का अहसास पैदा कर सकेंगे, उसी हद तक ऐसे लोगों की संख्या बढ़ा पाने में सफल होंगें, जो 'विजनरी' हों, कल्पनाशील हों और फिलहाली पराजयों से मायूस हुए बगैर, गलतियों से सीखते हुए, ताउम्र यूँ लड़ते रहें, गोया इंकलाब उनके लिए एक मक़सद ही नहीं, बल्कि तौर-ए- ज़िन्दगी हो। वास्तविक स्थिति यही है कि "कविता, रोटी की तरह, हर व्यक्ति के लिए होती है।"

हमारे युग की विडम्बना यह है कि बहुसंख्यक आबादी इसे नहीं जानती। यदि वह जानती ही, तो इसे कहने की ज़रूरत नहीं पड़ती, क्योंकि तब यह सामान्य बात होती। हमें लगातार लोगों को इस बात का अहसास दिलाना होगा। इसमें हम जिस हद तक कामयाब होंगे, उस हद तक अन्यायपूर्ण ढाँचे के विरुद्ध लड़ने वालों की कतारें बढ़ा सकेंगे और उस लड़ाई का सामाजिक समर्थन-आधार ज्यादा से ज्यादा व्यापक बना सकेंगे।

– कविता कृष्णपल्लवी

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

रतन टाटा : अच्छे पूँजीवाद का 'पोस्टर बॉय'

● **'कामगार बिगुल' (मराठी)**

बीते 9 अक्टूबर को भारत के एक उद्योगपति रतन टाटा का देहान्त हो गया। इस "अच्छे प्रगतिशील पूँजीपति" की मौत पर बहुतेरे प्रगतिशील लोग दहाड़े मार-मार कर रो रहे हैं। आइए विस्तार में जानते हैं पूँजीवाद के इस "नैतिक पूँजीपति" के बारे में!

कोई पूँजीपति कितना "नैतिक" है, इस पर बात करने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि पूँजीवाद स्वयं एक अनैतिक व्यवस्था है। प्रत्येक पूँजीपति का अस्तित्व श्रम के शोषण पर निर्भर करता है और इसलिए उनकी नैतिकता पूँजीवादी नैतिकता है। चाहे टाटा हो, बिड़ला हो, अम्बानी हो, अडानी हो या कोई अन्य छोटे-बड़े पूँजीपति हों, ये सभी मज़दूर वर्ग का शोषण करके ही बड़े हुए हैं और जीवित हैं। मुनाफ़े की बेलगाम चाहत ही 'मूल पाप' है जो इस वर्ग को भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी, दोहरेपन, क्रूरता की ओर ले जाता है। लेकिन 'टाटा' समूह का नाम देश के उदारवादियों की नज़र में एक तावीज़ बन गया है और इस समूह को ईमानदारी, सादगी, नैतिकता, देशभक्ति और पूँजीवाद में "शुद्ध" होने वाली हर चीज़ का सबसे अच्छा उदाहरण माना जाता है। यह इस भ्रम को भी बढ़ावा देता है कि अच्छा पूँजीवाद अस्तित्व में आ सकता है। इसलिए टाटा के बारे में फैले इस भ्रम को दूर करना ज़रूरी है। वकीलों, वेतनभोगी पत्रकारों, पी.आर एजेण्टों और बुद्धिजीवियों की एक फ़ौज है जो पूँजीपतियों और पूँजीवादी व्यवस्था की सही छवि बनाने के लिए दिन-रात काम करती है। टाटा समूह इस प्रकार के छवि निर्माण के मानक स्थापित करने में अग्रणी है। सभी मुख्यधारा मीडिया में 'उद्योगपति' जे.आर.डी. टाटा और उनके बेटे रतन टाटा की 'सदाचारी' छवि लगातार बनायी जाती है। लेकिन टाटा समूह के 'सरल जीवन शैली', 'नैतिक व्यावसायिक व्यवहार' जैसे दावों के पीछे झूठ, भ्रष्ट सौदे, हत्याएँ, विस्थापन की कई परतें हैं। आइए इन 'परोपकारी' टाटाओं के असली चेहरे को समझें।

"स्वदेशी" टाटा ने हमेशा अंग्रेज़ों से हाथ मिलाया!

टाटा के बारे में जनता को जो बताया जाता है वह यह है: एक बार जमशेदजी नुसरवानजी टाटा नाम के एक दूरदर्शी व्यक्ति थे, जिन्होंने एक व्यापारिक कम्पनी (1868) की स्थापना की, फिर नागपुर में एक कपड़ा मिल (1877) की स्थापना की और बाद में उनके समान दूरदर्शी बेटे ने उनकी जगह ली। 19वीं शताब्दी के अन्त में शुरू हुई देशभक्ति की लहर के परिणामस्वरूप ब्रिटिश काल के दौरान 'देशभक्तिपूर्ण प्रयास' में टाटा ने साकची (1907) में देश का पहला भारतीय स्वामित्व वाला इस्पात संयन्त्र स्थापित किया। ऐसा कहा जाता है कि टाटा का मानना था कि स्टील भारत की आधुनिकता का प्रतीक होगा और उन्हें विश्वास था कि यह उद्देश्यपूर्ण उद्योग देश में समृद्धि लायेगा और ब्रिटिश युग की शोषणकारी प्रथाओं को उलट देगा। अफ़ीम के व्यापार से और 1857 में ईरान और 1868 में इथियोपिया पर हमले के दौरान ब्रिटिश सेना से कच्चा माल प्राप्त कर टाटा ने कपास निर्यात अनुबन्धों से प्रारम्भिक पूँजी जुटायी। पहली कपास मिल का नाम अलेक्सन्द्रा मिल था, जो ब्रिटिश रानी और भारत की साम्राज्ञी के प्रति "भक्ति" का प्रतीक था!

1890 के दशक के अन्त में, ब्रिटिश सरकार भारत में लोहा और इस्पात संयन्त्र स्थापित करने के लिए उत्सुक थी। चूँकि अमेरिका और जर्मनी इस्पात उत्पादन में ब्रिटेन से आगे थे, इसलिए यह स्पष्ट है कि इस आवश्यकता के पीछे आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य कारण थे। भारत के ब्रिटिश सचिव लॉर्ड हैमिल्टन ने वायसराय लॉर्ड कर्ज़न को चेतावनी दी थी कि जर्मनी और अमेरिका सस्ता और अधिक वैज्ञानिक तरीक़े से स्टील बना रहे हैं और यदि भारत में स्टील उद्योग विकसित नहीं हुआ, तो भारत जल्द ही जर्मन सामानों का बाज़ार बन जायेगा। साथ ही ब्रिटिश व्यापारियों के लिए यह नुक़सानदेह होगा। अंग्रेज़ों को टाटा में वह आदमी मिल गया, जिसकी उन्हें तलाश थी। जब जमशेदजी टाटा ने चिन्ता जतायी, तो हैमिल्टन ने उन्हें ब्रिटिश सरकार के पूर्ण समर्थन का आश्वासन दिया और वादा निभाया। 5 जून 1912 को लिखे एक पत्र में टाटा ने ब्रिटिश सरकार द्वारा दी गयी "बहुत उदार रियायतों" के लिए अपना आभार व्यक्त किया। बिहार के साकची में सरकार द्वारा अधिग्रहित भूमि का एक बड़ा हिस्सा टाटा को सौंप दिया गया। रेलवे बोर्ड का काम शुरू होने से पहले स्टील के लिए टिस्को (टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, टिस्को) से माँग रखी गयी। तो यह है टाटा के "राष्ट्रवादी" प्रयास की पृष्ठभूमि, जिसके तहत उन्होंने "एकल-उद्देश्यीय" इस्पात परियोजना स्थापित की और इसके बारे में टाटा के शागिर्द इतिहासकार लिखते ही नहीं। कहा जाता है कि टिस्को ने सभी सरकारी और विदेशी सहायता को अस्वीकार कर दिया था। उसकी पूरी पूँजी 3 महीने के भीतर भारतीयों द्वारा जुटायी गयी थी। यह दावा कि टिस्को ने "सरकारी और विदेशी सहायता को अस्वीकार कर दिया है" बिल्कुल ग़लत है। जब लन्दन में प्रारम्भिक पूँजी जुटाने के प्रयास विफ़ल हो गये, तो प्रारम्भिक पूँजी प्रदान करने वाले भारतीय ज़्यादातर ज़मींदार, व्यापारी और राजनेता थे, जिनमें से एक ग्वालियर के महाराजा भी थे। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन सभी के द्वारा निवेश किया गया पैसा देश की मेहनतकश जनता के शोषण से प्राप्त हुआ था। भारत के वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने 2 जनवरी 1919 को टिस्को के संस्थापक के सम्मान में साकची का नाम बदलकर जमशेदपुर कर दिया। 1922 में जब टिस्को वित्तीय संकट में था, तो ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश राजधानी बड़े पैमाने पर उसके बचाव में आये। इसके बाद वायसराय रीडिंग ने टाटा समूह की ओर से मिलने आये पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास (उस समय भारत के सबसे बड़े पूँजीपतियों में से एक) को बताया कि "सरकार इस बात के लिए प्रतिबद्ध है कि जमशेदपुर मिलों की चिमनियाँ नहीं बुझनी चाहिए", और फिर रुपये प्रदान किये। कम्पनी को संकट से उबारने के लिए बॉण्ड के रूप में 50 लाख रु. मिले। 1910 के दशक से ब्रिटिश शासन के अन्त तक टाटा का अंग्रेज़ों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। कई वर्षों तक टाटा के कुछ निदेशक ब्रिटिश वायसराय की कार्यकारी परिषद के सदस्य थे। टाटा समूह को अंग्रेज़ो द्वारा लगाये गये सुरक्षात्मक कराधान प्रणाली और ब्रिटिश नियन्त्रित रेलवे और सार्वजनिक खातों के साथ अनुबन्धों से बहुत लाभ हुआ, जो कुल बिक्री का 9/10 की गारण्टी देता था। इस प्रकार एक महान स्वदेशी उद्योगपति का शोर सिर्फ़ एक खाली बर्तन है, जिसे ज़ोर-ज़ोर से बजाया जाता है।

टाटा समूह के "नैतिक" इतिहास के शर्मनाक पहलू

जब टाटा की तुलना रिलायंस या अडानी से की जाती है तो कई 'प्रगतिशील' नाराज़ हो जाते हैं और दावा करते हैं कि टाटा समूह ने अद्वितीय नैतिक मानकों को बनाये रखा है और इसकी तुलना इन भ्रष्ट समूहों से नहीं की जा सकती। या तो ये उदारवादी घोर अज्ञानता में जी रहे होते हैं, या अपने पसन्दीदा ब्राण्डों के कारनामों को भूलने का सचेत प्रयास कर रहे होते हैं। आइए देखते हैं टाटा ग्रुप की कुछ उपलब्धियाँ।

जून 1975 में, तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने देशव्यापी आपातकाल की घोषणा की और फिर सभी राजनीतिक विरोधियों, छात्रों और ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं पर क्रूर कार्रवाई शुरू की। जेआरडी टाटा इस फ़ैसले के समर्थक हैं। न्यूयॉर्क टाइम्स के साथ एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था, "चीज़े बहुत आगे बढ़ गयी थीं। आप कल्पना नहीं कर सकते कि हमें क्या सहना पड़ा। हड़तालें, बहिष्कार, प्रदर्शन। ऐसे भी दिन थे जब मैं अपने कार्यालय से

(पेज 12 पर जारी)

छत्तीसगढ़ के लाखों विस्थापित आदिवासियों से पूछिए "महान परोपकारी" टाटा के कारनामे

यहाँ मैं 2008 में भारत सरकार के ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा जारी उस रिपोर्ट का जिक्र करना चाहूँगा जिसका शीर्षक है 'कमेटी ऑन स्टेट एग्रेरियन रिलेशंस ऐंड अनफिनिश्ड टॉस्क ऑफ लैंड रिफ़ॉर्म्स'।

इसकी अध्यक्षता केन्द्रीय ग्राम विकास मंत्री ने की। 15 सदस्यों वाली इस समिति में अनेक राज्यों के सचिव और विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान तथा कुछ अवकाशप्राप्त प्रशासनिक अधिकारी शामिल थे। इस रिपोर्ट में बताया गया है कि विकास परियोजनाओं के नाम पर कितने बड़े पैमाने पर उपजाऊ जमीन और वन क्षेत्र को उद्योगपतियों को दिया गया।

मैं इस रिपोर्ट के एक अंश पर ध्यान दिलाना चाहूँगा। 'आदिवासियों की जमीन हड़पने की कोलम्बस के बाद की सबसे बड़ी कार्रवाई' उपशीर्षक के अन्तर्गत भारत सरकार की इस रिपोर्ट में बताया गया है कि –

"छत्तीसगढ़ के तीन दक्षिणी जिलों बस्तर, दाँतेवाड़ा और बीजापुर में गृहयुद्ध जैसी स्थिति बनी हुई है। यहाँ एक तरफ तो आदिवासी पुरुषों और महिलाओं के हथियारबन्द दस्ते हैं जो पहले पीपुल्स वॉर ग्रुप में थे और अब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के साथ जुड़े हैं तथा दूसरी तरफ सरकार द्वारा प्रोत्साहित सलवा जुडुम के हथियारबन्द आदिवासी लड़ाकू हैं जिनको आधुनिक हथियारों और केन्द्रीय पुलिस बल के तमाम संगठनों का समर्थन प्राप्त है। यहाँ जमीन हड़पने की अब तक की सबसे बड़ी कार्रवाई चल रही है और जो पटकथा तैयार की गयी है वह अगर इसी तरह आगे बढ़ती रही तो यह युद्ध लम्बे समय तक जारी रहेगा। इस पटकथा को तैयार किया है टाटा स्टील और एस्सार स्टील ने जो सात गाँवों पर और आसपास के इलाकों पर क़ब्ज़ा करना चाहते थे ताकि भारत के समृद्धतम लौह भण्डार का खनन कर सकें।

"शुरू में ज़मीन अधिग्रहण और विस्थापन का आदिवासियों ने प्रतिरोध किया। प्रतिरोध इतना तीव्र था कि राज्य को अपनी योजना से हाथ खींचना पड़ा... सलवा जुडुम के साथ नये सिरे से काम शुरू हुआ। अजीब विडम्बना है कि कांग्रेसी विधायक और सदन में विपक्ष के नेता महेन्द्र कर्मा ने इसकी शुरुआत की लेकिन भाजपा शासित सरकार से इसे भरपूर समर्थन मिला... इस अभियान के पीछे व्यापारी, ठेकेदार और खानों की खुदाई के कारोबार में लगे लोग हैं जो अपनी इस रणनीति के सफल नतीजे की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सलवा जुडुम शुरू करने के लिए पैसे मुहैया करने का काम टाटा और एस्सार ग्रुप ने किया क्योंकि वे 'शान्ति' की तलाश में थे...सरकारी आँकड़ों के मुताबिक 640 गाँव ख़ाली करा दिये गये, इन गाँवों के मकानों को ढाह दिया गया और बन्दूक की नोक पर तथा राज्य के आशीर्वाद से लोगों को इलाके से बेदखल कर दिया गया। साढ़े तीन लाख आदिवासी, जो दाँतेवाड़ा ज़िले की आधी आबादी के बराबर हैं, विस्थापित हुए, उनकी औरतें बलात्कार की शिकार हुईं, उनकी बेटियाँ मारी गयीं और उनके युवकों को विकलांग बना दिया गया। जो भागकर जंगल तक नहीं जा पाये उन्हें झुण्ड के झुण्ड में विस्थापितों के लिए बने शिविरों में डाल दिया गया जिनका संचालन सलवा जुडुम द्वारा किया जाता है। जो बच रहे वे छुपते छुपाते जंगलों में भाग गये या उन्होंने पड़ोस के महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और उड़ीसा में जाकर शरण ली।

"640 गाँव खाली हो चुके हैं। हज़ारों लाखों टन लोहे के ऊपर बैठे इन गाँवों से लोगों को भगा दिया गया है और अब ये गाँव सबसे ऊँची बोली बोलने वाले के लिए तैयार बैठे हैं। ताज़ा जानकारी के अनुसार टाटा स्टील और एस्सार स्टील दोनों इस इलाके पर क़ब्ज़ा करना चाहते हैं ताकि वहाँ की खदानें इनके पास आ जायें।" (पृ. 160-161)

(यह रिपोर्ट अभी भी मंत्रालय की वेबसाइट पर उपलब्ध है पर उसमें न तो यह हिस्सा है और न ही टाटा या एस्सार का कहीं नाम है। हालाँकि उस वक़्त के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इस पर रिपोर्टें प्रकाशित हुई थीं जिन्हें देखा जा सकता है।)

(वरिष्ठ पत्रकार आनन्द स्वरूप वर्मा की फ़ेसबुक वॉल से साभार)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016